# भारतीय नीति-विज्ञान

# भारतीय नीति-विज्ञान

अर्थात्

(भारतीय तथा पाश्चात्य सदाचार का
तुलनात्मक अध्ययन)

भूमिका-लेखक

प्रोफेसर डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०
(अध्यक्ष, दर्शन विभाग, बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय)

लेखक

रामनारायण यादवेन्दु बी० ए०, एल एल० बी०,
(रचयिता भारतीय-विधान, समाजवाद : गांधीवाद,
भारतीय संस्कृति व नागरिक जीवन,
राष्ट्रसंघ व विश्वशान्ति,
अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञानकोष
इत्यादि)

विद्या मन्दिर लिमिटेड
नई देहली

# विषय-सूची

## प्रथम खण्ड : सिद्धान्त

## द्वितीय खण्ड : सदाचार के मूल तत्व



## परिशिष्ट

## प्रथम खण्ड

# नीति-विज्ञान के सिद्धान्त

# भूमिका

हमारा जीवन एक घने और अंधेरे जङ्गल में किसी अज्ञात और अनिश्चित स्थान की ओर विवश यात्रा-सा जान पड़ता है। इसमें हमारे हृदय के भीतर टिमटिमाते हुए छोटे से दीपक के बहुत थोड़ी दूर तक जानेवाले प्रकाश के अतिरिक्त और कोई उजाला नहीं दिखाई पड़ता और हमारे से पूर्व गये हुए यात्रियों की अन्धाधुन्ध चाल की पगडंडियों के अतिरिक्त—जो हमें अपने टिमटिमाते प्रकाश में दिखाई पड़ती हैं—और कोई मार्ग नज़र नहीं आता। हम सब यात्री प्रायः अधांधुँध ही इस जीवन-जङ्गल में इधर उधर टक्कर खाते हुए फिर रहे हैं। योग-वासिष्ठ के शब्दों में

**"सर्व एव नरा मोहाद् दुराशापाशपाशिनः।**
**दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले॥"**

(यो० वा० १।२६।४१)

अर्थात्—"सब मनुष्य जीवनरूपी जङ्गल में अज्ञानवश दुराशाओं के जाल में फंसे हुए इस प्रकार भटकते फिर रहे हैं, जैसे कि झाड़ियों में रहनेवाले पशु।"

इस जीवन-जङ्गल में भ्रमण करते-करते कभी-कभी किसी यात्री के मन में ये प्रश्न उठते हैं और इनको हल करने के लिये वह व्याकुल हो जाता है और बिना उनका सन्तोषजनक उत्तर पाये वह आगे नहीं बढ़ता : मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? कहां मुझे जाना है ? कौन-सा मार्ग मुझे उस गम्य स्थान पर ले जासकता है ? किन कामों के करने

से मेरा कल्याण होगा ? क्या इस अंधेरे और घने जङ्गल में से मैं बाहर निकल सकता हूं ? क्या मुझे प्राप्त प्रकाश से अधिक प्रकाश किसी प्रकार मिल सकता है ? इत्यादि ।

महाभारत के युद्ध के भीषण अवसर पर जब कि दोनों ओर की सेनाएं युद्ध करने को सन्नद्ध थीं और केवल रण-शंख बजने की ही देर थी, कि अपने समय के महायोद्धा वीर अर्जुन के मन में इस प्रकार की जिज्ञासा का उदय हुआ था और उसने रण के मैदान में ही दोनों सेनाओं के बीच अपना रथ रुकवाकर अपने से अधिक ज्ञानी अपने साथी श्रीकृष्ण को यह कहा :—

"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।"

अर्थात्—"धर्म ( उचित कर्त्तव्य ) के विषय में मूढ चित्तवाला मैं आपसे पूछता हूं । जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो वह मुझे बताइये ।"

श्रीरामचन्द्र जी ने अपने कुलगुरु वसिष्ठ जी से बड़ी तीव्र जिज्ञासा के साथ ये प्रश्न किये थेः—

"किं तत्स्यादुचितं श्रेयः कि तत्स्यादुचितं फलम् ।
वर्तितव्यं च संसारे कथं नामासमञ्जसे ॥ १ ॥
(योग वासिष्ठ १ । ३० । २० । )

"क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ २ ॥
( यो० वा० १ । ३० । १६ । )

अर्थात्- "क्या उचित श्रेय है ? कौन-सा फल प्राप्त करने योग्य है ? इस असमञ्जस संसार मे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ? कौनसा ऐसा उपाय है, कौनसा ऐसा मार्ग है, कौनसा ऐसा विचार है, कौनसा ऐसा आश्रय ( सहारा ) है, जिससे यह जीवन रूपी जङ्गल दुःखदायी न हो ?"

इस प्रकार के प्रश्न प्रायः प्रत्येक मनुष्य के मन में कभी न कभी

उठते हैं और विचारशील व्यक्ति के मन में तो वे पग-पग पर उठा करते हैं। और जब तक इनका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक मनुष्य को चैन नहीं पड़ता। इस प्रकार की व्यग्रता का सर्वोत्तम उदाहरण तो हमें श्रीरामचन्द्र जी के जीवन में मिलता है। उन्होंने अपनी जिज्ञासा का सन्तोषजनक उत्तर मांगते हुए अपने गुरु से यहां तक कह डाला कि यदि आप इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते अथवा मैं स्वयं उन्हें अपने आप हल नहीं कर सकता, तो

"न भक्षये न पिबाम्यम्बु नाहं परिदधेऽम्बरम्।
करोमि नाहं व्यापारं स्नानदानाशनादिकम्॥
न च तिष्ठामि कार्येषु सम्पत्स्वापद्दशासु च।
न किंचिदपि वाञ्छामि देहत्यागादृते पुनः॥
(यो० वा० १।३१। २२,२३।

न मैं अन्न खाऊंगा, न पानी पीऊंगा, न कपड़े पहनूंगा और न स्नान-दान आदि नित्य के कामों को करूंगा। किसी काम में अपने आपको नहीं लगाऊंगा, और न आपत्ति व सम्पत्ति की परवाह करूंगा। मैं शरीर-त्याग के सिवाय कुछ नहीं चाहता।"

इस जिज्ञासा का होना और इन प्रश्नों के हल करने का प्रयत्न ही मनुष्य को पशुओं से ऊंचा प्राणी बनाता है, वरना प्राकृत आवश्यकताओं, प्रवृत्तियों और शारीरिक शक्तियों में मनुष्य और पशुओं में भेद ही क्या है? किसी ने ठीक ही कहा है—

"आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि नृणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना पशुभिःसमानाः॥"

अर्थात्—'आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि सभी प्राकृत प्रवृत्तियां पशुओं व मनुष्यों में समान ही हैं। मनुष्यों में केवल ज्ञान (जानने की इच्छा व शक्ति) ही एक अधिक एवं विशेष गुण है। जिसमें ज्ञान नहीं, वह तो निरा पशु-समान है।'

इस जिज्ञासा को जागृत करना और इसे मरने न देना मनुष्य का

सब से पहला काम है। इसी में उसकी मनुष्यता है--क्योंकि इसके बिना वह पशु ही है। सच्चे मनुष्य वे ही मनुष्य हैं जो विचार-शक्ति से काम लेते हैं। अतएव किसी संस्कृत-कवि ने ठीक ही कहा है--

"प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं वा सत्पुरुषैरिति॥"

"प्रतिदिन मनुष्य को यह देखते रहना चाहिये कि उसका आचरण पशुओं के आचरण के समान है या सच्चे मनुष्यों के।"

अब प्रश्न यह है कि उन प्रश्नों का और विशेषतः इस प्रश्न का कि इस जीवन-वन में कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर, कल्याणप्रद अथवा परमानन्द देनेवाला है?--उत्तर कैसे मिले? इस संसार-यात्रा में बहुत से बटोही तो ऐसे होते हैं जिनको केवल किसी दूसरे यात्री का इतना कह देना ही पर्याप्त होता है कि "हम सब को अमुक स्थान पर जाना है और यह पगडंडी उसकी ओर ले जाती है। इसको पकड़कर बिना किसी शंका के आगे बढ़े चलो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।" ये लोग उनके कहने-मात्र से विश्वास करके चल पड़ते हैं और चलते रहते हैं। पर दूसरे लोगों में इतना अंध-विश्वास नहीं होता। क्योंकि वे यह देखते हैं कि कोई भी पगडंडी इतनी सरलता से किसी निर्दिष्ट स्थान को नहीं लेजाती जैसा कि उनको बतलाया जाता है। हरेक पगडंडी पर चलने में पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। थोड़ी देर चलने पर प्रत्येक पगडंडी में से शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ निकलती रहती हैं जो अनेक दिशाओं में जाती हैं। इसी बात का क्या निश्चय है कि सभी यात्रियों का गम्य स्थान वही है जो बतलाया जाता है, क्योंकि जितने बतलानेवाले मुंह, उतनी ही उनकी बातें।

हां, एक बात, चाहे वह भी केवल एक निराधार अन्धविश्वास ही क्यों न हो, प्रायः सभी यात्रियों के मन में बैठी हुई-सी है। वह यह है कि इस जीवन-यात्रा का कोई निश्चित उद्देश्य है और उस उद्देश्य की ओर लेजानेवाला कोई मार्ग है और उस मार्ग पर चलना ही मनुष्य

का कर्तव्य है। उस उद्देश्य के साधारण नाम 'निःश्रेयस' 'कल्याण' और 'सिद्धि' आदि हैं और उस अज्ञात मार्ग को 'धर्म' 'योग' और 'सदाचार' आदि कहते हैं। जो मार्ग जीवन के उद्देश्य की ओर नहीं ले जाता अथवा विरुद्ध दिशा में ले जाता है, उसको 'अधर्म', 'पाप' और 'दुराचार' कहते हैं।

इतनी बात तो प्रायः सभी यात्री जानते और मानते हैं। परन्तु केवल इतना ही जान लेने से मनुष्य का काम नहीं चल सकता। ये तो बहुत साधारण बातें हैं—यद्यपि इन पर भी मतभेद हो सकता है और है भी। मनुष्य, वास्तव में, यह भी जानना चाहता है कि जीवन के उस उद्देश्य—'निःश्रेयस' 'कल्याण' या 'सिद्धि' का क्या विशेष रूप है और उसकी ओर लेजानेवाले मार्ग– 'धर्म' 'योग' व 'सदाचार' के व्यावहारिक लक्षण और अङ्ग-प्रत्यङ्ग क्या हैं ? वह मार्ग प्रत्येक दोमुहानी, त्रिमुहानी और चौमुहानी आदि पर किधर को ठीक ठीक जायगा ?

इन प्रश्नों का उत्तर आधुनिक मनुष्य केवल प्राचीन शास्त्रों—वेद, बाइबिल और कुरान आदि—के अथवा पूर्वकालीन सन्तों व महात्माओं के जीवन के आधार पर ही नहीं चाहता। आधुनिक काल में बुद्धि का प्रयोग अधिक होने लगा है अतः वह अपने सब प्रश्नों का हल बुद्धि द्वारा अपने ही अनुभव के आधार पर करना चाहता है। योग वासिष्ठकार के शब्दों में आजकल सभी लोग यह कहने लगे हैं:—

**"युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।**
**अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥१॥**
**अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।**
**अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्यायैकसेविना ॥२॥**
**सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।**
**प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥३॥**

अर्थात् "युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिये। लेकिन

युक्तिहीन बात तृण के समान त्याग देनी चाहिये, चाहे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के मुख से ही क्यों न निकली हो। जो लोग सत्य के भक्त हैं उनको चाहिये कि जो शास्त्र युक्तियुक्त और ज्ञान की वृद्धि करने वाला हो उसी को मानें चाहे वह किसी साधारण मनुष्य का लिखा हुआ क्यों न हो, और जो शास्त्र ऐसा नहीं है उसको तृण के समान फेंक दें, चाहे वह किसी ऋषि का बनाया हुआ ही क्यों न हो। जैसे समुद्र सब जलों का उद्गम स्थान है, वैसे ही सब प्रमाणों का आधार एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।"

जीवन के उद्देश्य और तदुचित मार्ग अर्थात् सदाचार या अनुभव के आधार पर युक्ति द्वारा विचार करनेवाले ग्रन्थों की पाश्चात्य देशों और विदेशी भाषाओं में बहुत प्रचुरता होते हुए भी हिन्दी भाषा में—जो भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा और अधिकाश लोगों की जन-साधारण-भाषा होने का दावा करती है—बहुत अभाव है। एक-दो पुस्तकों को छोड़कर सदाचार की वैज्ञानिक (अर्थात् अनुभव के आधार पर युक्ति-युक्त) रीति से व्याख्या करनेवाली पुस्तकें मुझे हिन्दी भाषा में नहीं दिखाई पड़तीं। अतएव मैं समझता हूं कि श्री रामनारायण यादवेन्दु जी ने प्रस्तुत 'भारतीय नीति-विज्ञान' को आधुनिक रीति से लिखकर हिन्दी भाषा में इस अभाव को दूर करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में उन्होंने कर्त्तव्य-विज्ञान (Ethics) के प्रायः सभी तत्वों का यथोचित समावेश और उनका भारतीय आचारपद्धति के तत्त्वों के साथ समन्वय उत्तम रीति से किया है। इस पुस्तक में प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नवीन विचारधाराओं का सुन्दर सङ्गम दिखाई पड़ता है, जिसमें स्नान करने के पश्चात् जीवन-पथ का जिज्ञासु यात्री किसी उचित पगडंडी को पकड़ लेगा। मुझे आशा है कि पाठकों को इससे काफी प्रकाश मिलेगा और वे इस ग्रन्थ का आदर करेंगे।

यहां पर इतना स्थान नहीं है और न उचित अवसर ही है कि मैं पुस्तक रचयिता के मतों का उल्लेख करूं अथवा उनके सिद्धान्तों की

व्याख्या या समालोचना करूं। हां, इस विषय में मेरी—अपने इस छोटे से जीवन के अनुभव, अध्ययन और विचार के आधार पर—जो धारणा अभी तक बन गई है उसे थोड़े से शब्दों में पाठकों के समक्ष रख देना चाहता हूं।

मेरी समझ में मनुष्य को अभी तक इतना वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है कि वह जीवन और जगत सम्बन्धी सभी प्रश्नों के अनुभव और प्रयोग के आधार पर—जो कि विज्ञान के मुख्य आधार हैं—हल कर सके। अतएव उसे अपनी विचारात्मक कल्पना-शक्ति से ही जगत और जीवन-संबन्धी अन्तिम प्रश्नों का हल करना है। इस प्रकार की कल्पना को आधुनिक समय में दर्शन ( Philosophy ) कहते हैं। दर्शन को अनुभव की सीमा का उल्लंघन करना ही पड़ता है, यद्यपि उसे अनुभव के आधार पर खड़ा होना चाहिये। दर्शन के पैर तो अनुभव भूमि पर मगर सिर और हाथ उस भूमि से ऊपर होते हैं और होने भी चाहियें। जीवन की अन्तिम समस्याओं के ऊपर विचार करने का अधिकार—किसी एक विज्ञान को नहीं है क्योंकि उसका केन्द्र परिमित है—केवल दर्शन को ही है।

पर दर्शन के विस्तृत और अनन्त क्षेत्र में घुसते ही हमको अनन्त प्रकार के मतों का सामना करना पड़ता है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'। प्रत्येक मत अपने आपको अनुभव के आधार पर स्थित और युक्तियुक्त समझता है और ऐसा होने का दावा करता है। तो भी दर्शन के अनन्त विषयों में से किसी विषय पर भी कोई मत ऐसा नहीं है, जो सर्वमान्य हो और जिसमें गुण व दोष दोनों ही न हों। निष्पक्ष भाव से विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है, कि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही अनेक अकाट्य युक्तियां दी जासकती हैं। और प्रत्येक सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में अनुभव की गवाही भी मिल सकती है। अन्ततोगत्वा कौन सिद्धान्त सत्य है और कौन असत्य इसके कसने की कोई कसौटी अभी तक मनुष्य के पास नहीं है क्यों कि वह अल्पज्ञ है।

सर्वज्ञ होता तो उसे दर्शनरूपी प्रयत्न करने की आवश्यकता न होती।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में सत्यता और असत्यता दोनों ही हैं। प्रत्येक मत कुछ अंश में और कुछ हद तक ठीक है और कुछ अंश में और कुछ दूर चलकर ग़लत है अतएव सब से सन्तोषजनक वह कोई सर्व-व्यापी सिद्धान्त हो सकता है जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश और समन्वय हो सके। मनुष्य-जीवन के पूर्णत्व, कल्याण या निःश्रेयस की कोई ऐसी कल्पना होनी चाहिये जिसमें मनुष्य-जीवन की सब इच्छाओं की पूर्त्ति और सब शक्तियों का विकास और उपयोग होने की सम्भावना हो और जिसमें मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति-परमतृप्ति का अनुभव हो सके।

ऐसे कल्याण की क्या विशेष रूप-रेखा होगी उसका निश्चय करना उस स्थिति का अनुभव किये बिना केवल अपने प्रस्तुत अनुभव के आधार पर असम्भव है। हां, उसकी झलक इस अन्धकारमय जीवन के प्रत्येक बटोही को अपने हृदय के टिमटिमाते हुए दीपक के शुद्ध प्रकाश में पग पग पर होती रहती है। और यही झलक उस सच्चे और सरल हृदय यात्री को, जिसके मन में जीवनोद्देश्यप्राप्ति की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो चुकी है, पथ-प्रदर्शन करती रहती है। मनुष्य को जीवन के अन्तिम ध्येय का इतना ही ज्ञान सम्भव है और उसे इसी से सन्तुष्ट रहकर जीवन-मार्ग पर चलते रहना चाहिये। जितना प्रकाश हमको प्राप्त है और उस प्रकाश में आदर्श की जो झलक और मार्ग का जितना भाग हमें दिखाई पड़ जाय उसी के अनुसार हमें चलते रहना चाहिये। संभव है—जैसा कि सन्त-महात्माओं और सिद्धों के जीवन से प्रतीत होता है—कि अन्तिम ध्येय या पूर्णता की प्राप्ति की तीव्र वासना से और उस ध्येय की ओर अधिकाधिक बढ़ते बढ़ते हमारे हृदय के प्रकाश में कुछ स्थिरता आ जाय और उसकी मात्रा और विस्तार भी बढ़ जाय पर इतना तो निश्चित-सा ही जान पड़ता है कि बिना किसी पथ पर अग्रसर हुए केवल बैठे-बिठाये कल्पना और विचार करने से उस प्रकाश

में न स्थिरता ही आती है और न वृद्धि ही होती है।

निःश्रेयस की रूपरेखा निश्चित करना जितना कठिन है उतना ही सच्चे मार्ग—धर्म, योग या सदाचार—का स्वरूप तय कर लेना कठिन है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस प्रश्न पर बहुत विचार किया और अन्त में उनको भी यही कहना पड़ा "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां" अर्थात् धर्म का स्वरूप बहुत गूढ़ है दिखाई नहीं पड़ता। प्रत्येक मनुष्य का मार्ग उसकी परिस्थिति, शक्ति व प्रकृति के अनुसार निश्चित होना चाहिये। केवल दूसरों का अनुकरण करने से ही कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। जो काम किसी परिस्थिति में, किसी व्यक्ति के लिये किसी भिन्न अवस्था में 'धर्म' होता है, वही दूसरे व्यक्ति के लिये दूसरी अवस्था में अधर्म हो सकता है। कहीं अहिंसा धर्म है, तो कहीं हिंसा भी धर्म है। यहां पर भी हमें तीव्र धर्म, जिज्ञासा और कल्याण की भावना के द्वारा शुद्ध किये हुए हृदय की ही शरण लेनी पड़ेगी। और उसके लिये टिमटिमाते हुए प्रकाश में ही धर्म-अधर्म का निर्णय करना पड़ेगा। संभव है कि सरल भाव से ऐसा करते करते हमारा प्रकाश स्थिर, विस्तृत और सूक्ष्म-दर्शक हो जावे और समय पाकर हम धर्म के तत्वों को भली भांति समझने लगें। हमारा हृदय ही वह गुफा है जिसमें धर्म का तत्व निहित है, उसे वहीं ढूंढना पड़ेगा।

ये सब बातें अनिश्चित होते हुए भी, एक बात तो निश्चित ही है। और वह यह कि जिस जीवन में मैं विचरण कर रहा हूं उसमें मेरे जैसे अनेक और अनन्त प्राणी भी इसी प्रकार विचरण कर रहे हैं। उनके जीवन के साथ मेरे जीवन का अकाट्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। मेरे द्वारा दूसरों को दुःख-सुख प्राप्त होता है और मुझे उनके द्वारा। मैं दूसरों को हानि-लाभ पहुंचा सकता हूं और दूसरे मुझे। गहराई से विचार करने पर यह मालूम पड़ता है कि मेरा जीवन-मरण, मेरी उन्नति-अवनति, आगे बढ़ना व पीछे हटना आदि सभी दूसरों के कर्मों और व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। मेरे कर्म और व्यवहार दूसरे प्राणी को

इसी प्रकार प्रभावित करते हैं। अतएव दूसरों के प्रति मेरा क्या भाव और व्यवहार होना चाहिये—इसका निश्चय करना कुछ कठिन नहीं है। हमारे सामाजिक आचार का—जिसमें कि हमें दूसरे व्यक्तियों और प्राणियों के प्रति अपनी व्यवहार-नीति स्थिर करनी पड़ती है—इससे बढ़कर और इससे सरल और क्या नियम हो सकता है कि हम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना सीखें जैसा कि हम उनसे अपने प्रति चाहते हैं और दूसरों के प्रति हम कोई ऐसा काम न करें जो उनसे हम अपने प्रति नहीं चाहते। वेदव्यास जी ने महाभारत में इन सिद्धांतों को ही धर्म का सार कहा है—

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ १॥
न तत्परस्य कुर्वीत स्यादनिष्टं यदात्मनः।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥ २॥

अर्थात्—"धर्म (सामाजिक सदाचार) का सर्वस्व सुनो और सुनकर उस पर चलो। जो अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरों के प्रति मत करो। जो अपने लिये अनिष्ट है वह दूसरों के लिये मत करो और जिसकी अपने लिये इच्छा है, वह दूसरों के लिये भी सोचो।"

इस सिद्धान्त से बढ़कर सामाजिक सदाचार का सिद्धान्त अभी तक मुझे कोई ज्ञात नहीं है। यदि मनुष्य इसी को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक बना ले, तो जीवन-यात्रा में वह बहुत से गड्ढों और खड्डों में गिरने से बच जायगा और उसके दुःख-सुख में शरीक होने वाले उसे बहुत सुसङ्गी मिल जायंगे। उसे एक दिन यह प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा कि जितने प्राणी उसके साथ जीवन में विचरण कर रहे हैं, वे अलग-अलग स्वतंत्र व्यक्ति होते हुए भी एक वृहदाकार विराट पुरुष—मानव-समाज, नहीं-नहीं समस्त प्राणि-समाज—के अनेक अंग हैं।

समस्त विराट पुरुष का कल्याण इसी में है कि उसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गों के साथ सहयोग और संगठन से काम करता रहे। अपने

स्थान, अपनी रुचि, अपनी शक्ति और अपने योग्य कामों को करता हुआ प्रत्येक प्राणी उस विराट पुरुष को प्रसन्न करता हुआ स्वयं भी सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त हम अल्पज्ञ मनुष्य क्या जानते हैं? गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही बतलाया भी है:--

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥**

अर्थात् जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जो सब संसार में व्याप्त है, उसको अपने (स्व) कर्म द्वारा प्रसन्न करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

(डा०) भीखनलाल आत्रेय
एम० ए०, डी० लिट०
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी
बनारस

# प्राक्कथन

सदाचार व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार रखता है और हमारे दैनिक जीवन में वह इतना महत्व रखता है कि हम किसी भी अवस्था में उसकी उपेक्षा कर न व्यक्तिगत उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं और न सामाजिक अभ्युदय। न केवल लौकिक जीवन के साफल्य के लिये वरन् पारलौकिक जीवन के लिये भी सदाचार परम आवश्यक है। परन्तु यह कितने खेद और आश्चर्य का विषय है कि आज के अर्थ–प्रधान युग में लोक में न ईश्वर के प्रति श्रद्धा रही है और न धर्म में ही आस्था; फिर सदाचार का ऐसे समाज में मान ही क्या हो सकता है।

एक युग था जब कि व्यक्ति की उन्नति तथा सम्मान की परीक्षा उसके चरित्र एवं सदाचार से होती थी और सदाचारी विद्वान का बड़ा आदर-सम्मान होता था; परन्तु आज हमारे धर्म-प्रधान कहलाने वाले देश में जिस व्यक्ति का बैंक में सब से अधिक धन है, वही समाज में, वही राज्य में और वही विश्व में पूज्य है, प्रतिष्ठित है और प्रभावशाली है।

यही कारण है कि आज धर्म, सदाचार तथा सद्गुणों की अपेक्षा मानव का मूल्यांकन धन-राशि तथा सम्पत्ति के अर्थों में किया जाता है। इसी लिये समाज में न सदाचारी का सम्मान होता है और न सदाचारी जीवन बिताने के लिये नागरिकों को प्रेरणा ही मिलती है। इसी समय हमारे देश में द्वितीय विश्व-युद्ध द्वारा जनित अनैतिक

परम्पराओं के कारण घोर अनीति परिव्याप्त है। जीवन के किसी भी विभाग की ओर दृष्टि डालें सर्वत्र स्वार्थपरता का नग्न नृत्य दीख पड़ता है; प्रत्येक व्यक्ति धन-संचय में इतनी बुरी तरह लीन है कि उसे सदाचार का तो तनिक भी ध्यान नहीं है; फिर आत्मा, परमात्मा और अध्यात्मवाद की चर्चा कौन करे। किसी युग में भारतवर्ष जितना ही धर्म-प्रधान और दार्शनिक देश था, उतना ही आज वह घोर भौतिकवादी हो गया है कि उसे किसी आदर्श की भी सुध-बुध नहीं रही है।

आज हमारे सार्वजनिक जीवन में जो आर्थिक लोलुपता अपना मुँह फाड़े हमारे सदाचार व संस्कृति को हड़पने के लिये चेष्टा कर रही है, उसी के कारण देश में आज घोर अर्थ–संकट है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् तो हमारे देशवासियों का ऐसा चारित्रिक पतन हुआ है, कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। आज हमारा समाज ऊपर से नीचे तक घोर अनैतिकता ( Immorality ) के अभिशाप से प्रपीड़ित है। क्या शिक्षा, क्या धार्मिक संस्था, क्या व्यापारिक अथवा सामाजिक क्षेत्र, क्या राजनीति, क्या व्यवसाय और उद्योग–धंधे सभी पर अनैतिकता की घनी छाया है। हम निशिदिन ऐसे वातावरण में सास लेरहे हैं कि जिससे हमारी आत्मा पाप पंक में डूबती जारही है। देश के राजनीतिक नेताओं के सामने आज इतने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न हैं, कि वे सामाजिक जीवन के इस नैतिक पक्ष की ओर विचार करना तो दूर रहा अपनी गहरी दृष्टि भी नहीं डालते। अतः यदि हमारे समाज की ऐसी ही दशा रही और इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये कोई नैतिक व्यवस्था प्रतिष्ठित नहीं की गई तो हम न अपनी नव-अर्जित स्वाधीनता का यथोचित भोग कर सकेंगे और न अपने देश का उत्थान ही। क्योंकि चरित्र-हीन राष्ट्र और समाज संसार में विजयी नहीं होते।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस हमारे देश की सब से महान राजनीतिक संस्था है, जिसके निर्माण में महात्मा गांधी का योगदान सर्वाधिक था।

गांधीजी ने कांग्रेस तथा उसके कार्यक्रम व आन्दोलन को एक उच्च नैतिक आधार प्रदान किया। अपने जीवन-काल में उन्होंने इस राष्ट्रीय संस्था तथा इसके सदस्यों का नैतिक स्तर उच्चतम बनाने की पूरी चेष्टा की। यह आशा थी कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर यह संस्था भारतीय जनता के समक्ष उच्च नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत कर राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करेगी, परन्तु १५ अगस्त १९४७ को भारत में स्वाधीन राज्य की स्थापना के पश्चात् तो राष्ट्रीय कांग्रेस तथा कांग्रेस-जनों का राजनीतिक सदाचार का स्तर (Standard of Political morality) इतना गिर गया कि गांधी जी को अपने बलिदान से पूर्व इससे घोर सन्ताप हुआ था †।

भारतीय सरकार के प्रधान-मंत्री श्री पं० जवाहरलाल नेहरू, उप-प्रधान-मंत्री व गृहमंत्री सरदार पटेल, गवर्नर-जनरल श्री राजगोपालाचार्य जैसे नेता एवं अधिकारी अपने सार्वजनिक भाषणों में कांग्रेस-जनों में बढ़ते हुए दुराचार, भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता की निन्दा करते रहे हैं। सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार इस सीमा तक पहुंच गया है कि जयपुर-कांग्रेस (दिसंबर १९४८) में कांग्रेस तथा कांग्रेस-जनों को अपना सार्वजनिक आचरण का स्तर उच्च बनाने के लिये एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव का निम्नलिखित अंश समाज में परिव्याप्त भ्रष्टाचार का द्योतक है:—

"दुर्भाग्य से सत्ता के सम्पर्क के कारण बहुत से कांग्रेसजनों पर प्रभाव पड़ा है और इस सत्ता तथा स्थिति का स्वार्थ-साधन के लिये प्रयोग

---

†"जिस समय हम अपनी स्वाधीनता के लिये संघर्ष कर रहे थे, हमने महान त्याग, साहस और सेवा का परिचय दिया। आज हम में इन गुणों का अभाव है। इससे गांधी जी के मन को बड़ा सन्ताप हुआ और उनके शरीर में पिस्तौल की गोली के प्रवेश से पूर्व उनका हृदय टूट चुका था। हम सब यह जानते हैं।"
मद्रास के सिनेट-हाउस में २३-१२-४८ को डा० राधाकृष्णन का भाषण

करने की प्रवृत्ति है। निःस्वार्थ भाव से सेवा-भावना और सार्वजनिक हित के लिये रचनात्मक कार्य की भावना अब मिट गई है। वैज्ञानिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह अतीव आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति को रोका जाय और प्रत्येक कांग्रेसी नर-नारी का यह कर्तव्य है कि वह इस उद्देश्य से इस दिशा में कार्य करे।"

विषय समिति में जिस समय इस प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा था, उस समय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी श्री शंकरराव देव ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा:—

"यदि संस्था के नैतिक आचरण में सुधार नहीं हुआ तो कांग्रेस अपनी सारी शक्ति को खो बैठेगी और उसका अस्तित्व ही मिट जायगा।"

गत ३ सितम्बर १९४८ को उत्कल विश्वविद्यालय ( कटक ) के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर अपने भाषण में डा० राधाकृष्णन ने यह कहा:—

"वे (हमारे नेता) बड़े तीव्र शब्दों में ऊपर से नीचे तक परिव्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार, शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य-क्षमता की न्यूनता और व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों द्वारा शासन प्रबन्ध में हस्ताक्षेप की शिकायत कर रहे हैं। वे इस बात के लिये खेद प्रकट करते हैं कि सरकारी पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में योग्यता का ध्यान न कर दल-गत हितों को सन्तुष्ट किया जाता है। हमारी स्वतन्त्रता ने हमें उन्मत्त बना दिया है।"

अतः इस समय हमारे देश की जनता में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और उसे सदाचार-पथ पर अग्रसर करने की बड़ी आवश्यकता है।

यह कार्य सभाओं में सदाचार पर व्याख्यान दे देने से पूरा नहीं हो सकेगा। इसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे प्राथमिक स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालय तक के छात्र-छात्राओं को सदाचारी बनाने की पूरी पूरी व्यवस्था की जाय और नीति-विज्ञान (Ethics) सब श्रेणियों में अनिवार्य विषय बना दिया जाय। शिक्षालयों में केवल नीति के सिद्धान्तों की ही शिक्षा न दी जाय, वरन् उन्हें सदाचार के

मार्ग पर अग्रसर करने के लिये व्यावहारिक शिक्षण ( Training ) भी हो।

अतः इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने भारतीय नीति-विज्ञान पर यह पुस्तक लिखी है, जिसमें दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में सदाचार के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन तथा द्वितीय खण्ड में सदाचार-प्राप्ति के साधनों पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डाला है।

हमारे आदरणीय सुप्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डा० भीखनलाल आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्. (अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय) ने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर इसे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिये मैं हृदय से उन्हें धन्यवाद देता हूं।

इस पुस्तक के निर्माण में मुझे जिन पुस्तकों तथा विद्वान लेखकों के विचारों से सहायता मिली है, उनका अत्यन्त आभारी हूं और पाद-टिप्पणियों में मैंने उन पुस्तकों का उल्लेख कर दिया है।

इस पुस्तक के अन्त में मैंने परिशिष्टियों में सहायक पुस्तक सूची तथा परिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दे दिये हैं इससे पाठकों को उनके समझने में सुविधा मिलेगी।

अन्त में मैं श्री रामप्रताप जी गोंडल को अत्यन्त धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से इस पुस्तक का प्रकाशन कर आपके कर कमलों में प्रस्तुत किया है।

मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि इस पुस्तक का न केवल स्कूलों, कालेजों व विश्व–विद्यालयों में ही वरन् शिक्षित-जगत में प्रचार हो।

२ जनवरी १९४९<br>
नवयुग साहित्य निकेतन<br>
राजामंडी, आगरा।

रामनारायण यादवेन्दु

## पहला अध्याय

# नीति-विज्ञान का विषय

हमारे वेद समस्त मानवोपयोगी ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार हैं। वेदों में मानव-धर्म, दर्शन, तथा नीति-विज्ञान अथवा सदाचार-शास्त्र का प्रतिपादन जैसे युक्तियुक्तपूर्ण एवं निर्भ्रान्त ढंग से हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मानव-समाज के कल्याण के लिये जो उपदेश दिये और वेदों की व्याख्याएं कीं, वे ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, दर्शन-शास्त्रों तथा रामायण व महाभारत ही नहीं वरन् अनेक नीति-ग्रन्थों के रूप में आज भी उपलब्ध हैं। हमारे देश में प्राचीन-काल में विज्ञान, धर्म, दर्शन एवं नीति का समन्वयात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया। पाश्चात्य विद्वानों की भांति उनके बीच पृथकता की अमिट रेखा खींचने का प्रयास नहीं किया गया। ऐसा समन्वय आत्मा की तीन विशिष्टताओं के कारण ही किया गया। आत्मा के तीन प्रधान गुण हैं: इच्छा, ज्ञान व प्रयत्न। इच्छा का सम्बन्ध भावना से है; ज्ञान का विचार से और चेष्टा का कर्म से। आत्मा की इन तीन विशिष्टताओं के कारण ही मानव के कृत्य में भक्ति, ज्ञान व कर्म का समन्वय होता है। इसीलिये वेदों में भक्ति-योग, ज्ञान-योग, और कर्म-योग का विवेचन है। मानव के लिये जो धर्म है, उसी का उसे मनन करना चाहिये और वह जिसका मनन द्वारा निश्चय करे उसी का पालन आचरण में होना चाहिये। इस प्रकार भारतीय संस्कृति

में धर्म, दर्शन और नीति अथवा सदाचार का समन्वय है। वे एक जीवन-रूप में ग्रन्थित हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों की भांति हमारे देश में नीति-विज्ञान को धर्म अथवा दर्शन से पृथक् नहीं माना गया।

परन्तु हम यह असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि योगिराज कृष्ण की गीता भारतीय नीति-विज्ञान अथवा आचार-शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। संसार में इसके जोड़ का दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। हमारे वेद, दर्शन, उपनिषदें, गीता, रामायण और महाभारत आदि सभी ग्रन्थों में आचार की महिमा का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

जीवन में आचार के महत्व के विषय में महाभारत में लिखा है:-

"आचार ही धर्म का लक्षण है और आचार ही सन्तों का लक्षण है। सारे आगमों या शास्त्रों में आचार ही श्रेष्ठ कहा गया है।" ‡

"आचार से धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म से आयु की वृद्धि होती है। आचार से जीवन प्राप्त होता है और आचार से श्री की प्राप्ति होती है। इस लोक तथा परलोक में आचार के द्वारा ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है।" +

## नीति-विज्ञान अथवा आचार और आचार-शास्त्र

'आचार' संस्कृत शब्द है जिसका हिन्दी में तत्सम रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है व्यवहार, चाल-चलन, चरित्र या शील। पवित्रता और शुद्धता से व्यवहार करनेवाले व्यक्ति को आचारवान् कहा जाता है और 'आचार्य' शब्द भी इसी आचार शब्द से बना है जिसका अर्थ है पुरोहित, अथवा वेदाध्यापक। अतः आचार-शास्त्र या नीति-विज्ञान का अर्थ हुआ वह विज्ञान जो शुद्ध व्यवहार अथवा चरित्र-निर्माण की विवेचना करे, उसके लिये सिद्धान्तों और नियमों का

‡ महाभारत, अनु. पर्व १०४–६—७

+ महाभारत, अनु. पर्व १०४—१५६—

उल्लेख करे। इस प्रकार आचार-शास्त्र मानवों के पारस्परिक आचरण की विवेचना करने वाला विज्ञान है। इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है कि एक मानव को दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और इस व्यवहार का आदर्श क्या होना चाहिये। आचार–शास्त्र मानव को श्रेष्ठ आचार और निकृष्ट आचार में भेद बतलाता है जिससे मनुष्य श्रेष्ठ आचरण करने का अभ्यास कर सके। इसके लिये वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों, चेष्टाओं, विचारों, भावनाओं, अभ्यासों, और चरित्र के विषय में जांच-पड़ताल करता है।

आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण के मूल्यांकन से है। वह मानव के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करता है और उसी के प्रकाश में वह उसके कर्तव्यों और व्यवहारों की व्याख्या करता है।

आचार-शास्त्र श्रेष्ठ और उचित आचरण के सिद्धान्तों और नियमों की व्याख्या करता है। हम अन्यत्र इन शब्दों की व्याख्या करेंगे, परन्तु यहां इनके प्रयोजन पर सूक्ष्म रूप से विचार कर लेना उचित होगा।

'उचित' का सामान्य अर्थ है सही या ठीक। जब हम किसी कार्य को उचित कहते हैं, तब हमारा प्रयोजन यह होता है कि वह कार्य किसी नियम या धर्मविशेष के अनुकूल है और प्रत्येक नियम या धर्म का कोई लक्ष्य होता है। अतः जिस लक्ष्य की पूर्ति धर्म या नियम के द्वारा होती है, वही श्रेष्ठ है।

अब श्रेष्ठ शब्द पर विचार करना है। श्रेष्ठ का अर्थ है अच्छा, उत्तम या उत्कृष्ट। यदि किसी उद्देश्य की प्राप्ति में कोई वस्तु सहायक होती है, तो हम उसे श्रेष्ठ कहते हैं। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु या व्यक्ति श्रेष्ठ है तब हमारा प्रयोजन उस मूल्य से, गुण से होता है जो किसी उद्देश्य-विशेष की सिद्धि में सहायक होता है। जब हम किसी पुरुष या स्त्री के आचरण को श्रेष्ठ कहते हैं, तो हमारा प्रयोजन यह होता है कि उसका आचरण किसी निश्चित उद्देश्य और आदर्श की

प्राप्ति में सहायक है।

## नीति-विज्ञान की प्रकृति

नीति-शास्त्र मानवीय आदर्श को लक्ष्य में रखकर मानवों के परस्पर व्यवहार अथवा आचरण की व्याख्या करता है। यह मानव-आचरण और मानवीय-कार्यों की व्याख्या करता है और उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं और आकांक्षाओं पर प्रकाश डालता है। आचार-शास्त्र में मानव-चरित्र का निरीक्षण है और है मानव-आचरण की व्याख्या। इस कारण इसे विज्ञान माना गया है, परन्तु आचार-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। वह मानव-आचरण की उत्पत्ति, स्वभाव और विज्ञान पर प्रकाश नहीं डालता। वह मानव-आचरण की श्रेष्ठता या निकृष्टता पर ही अपना निर्णय देता है। उसे इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि मानव-आचरण की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका स्वभाव और विकास कैसा है। ये सब मनोविज्ञान के विषय हैं। दूसरे शब्दों में आचार-शास्त्र यह प्रतिपादित करता है कि मानव-आचरण कैसा होना चाहिये—वह यह प्रतिपादित नहीं करता कि मानव-आचरण कैसा है। इस प्रकार वह मानव को आदर्श की ओर लेजाता है। अतः नीति-विज्ञान या आचार-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञान नहीं है प्रत्युत वह विधायक या नियामक विज्ञान है।÷

## क्या नीति-विज्ञान व्यावहारिक विज्ञान है?

विज्ञान हमें किसी वस्तु या मानव का ज्ञान कराता है। कला हमें कार्य की ओर अग्रसर करती है। परन्तु व्यावहारिक विज्ञान हमें यह बतलाता है कि हमें कैसे करना चाहिये। वह विज्ञान और कला के बीच की वस्तु है। किसी लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के लिये व्यावहारिक विज्ञान हमारे लिये साधन प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से चिकित्सा-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान आदि व्यावहारिक विज्ञान हैं। क्योंकि वे हमें

÷ Normative Science.

श्रेष्ठ स्वास्थ्य की रक्षा के लिये साधन बतलाते हैं, केवल सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र नहीं करते।

पाश्चात्य आचार-शास्त्र वेत्ताओं ने आचार-शास्त्र को केवल विज्ञान ही माना है। उनके अनुसार आचार-शास्त्र ( Ethics ) का प्रयोजन मनुष्य के लिये नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा करना मात्र है। वह उसकी प्राप्ति के लिये न नियम बतलाता है और न साधन ही। वह यह नहीं बतलाता कि हमें अपना सदाचारी जीवन कैसे बनाना चाहिये। परन्तु भारतीय आचार-शास्त्र मनुष्य के लिये न केवल मानवीय आदर्श की प्रतिष्ठा करता है, प्रत्युत उसकी प्राप्ति के लिये साधन भी बतलाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में मानवों के लिये न केवल उच्चतम् आदर्श की प्रतिष्ठा ही की है, प्रत्युत उसकी साधना के लिये उपाय भी बतलाये हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य आचार-शास्त्र अपूर्ण है। उसमें केवल सिद्धान्त हैं, आदर्श हैं; परन्तु उन आदर्शों पर मनुष्य कैसे अमल करे इसका उल्लेख नहीं किया गया। इस दिशा में भारतीय नीति-शास्त्र पूर्ण है। उसमें मानवीय आदर्श और सिद्धान्तों के विवेचन के साथ-साथ उनकी सिद्धि के लिये भी उपाय और साधन बतलाये गये हैं।

## जीवन-कला

पाश्चात्य आचार-शास्त्र-वेत्ता आचार-शास्त्र को कला नहीं मानते। जब वे उसे व्यावहारिक विज्ञान मानने में आपत्ति पेश करते हैं, तब उसे कला मान भी कैसे सकते हैं। जिस प्रकार कला के द्वारा हम किसी वस्तु में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, उसी प्रकार आचार-शास्त्र मानव के लिये नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा कर उसकी प्राप्ति के लिये नियम और साधन बतलाता है जिनका अनुसरण करने से मानव-चरित्र में सौन्दर्य प्रस्फुटित होने लगता है। यदि मनुष्य श्रेष्ठ नैतिक नियमों के अनुसार आचरण कर अपने चरित्र को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करता

है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि वह जीने की कला का प्रयोग करता है। इस विषय में पाश्चात्य आचार-शास्त्र के लेखक मेकेञ्ज़ी ने लिखा है, "श्रेष्ठ चित्रकार वह है जो सुन्दर चित्र बना सकता है। पर श्रेष्ठ मनुष्य वह नहीं जो उचित कार्य कर सकता है, प्रत्युत वह है जो उचित कार्य करता है। श्रेष्ठता कोई योग्यता नहीं है, प्रत्युत वह तो क्रिया-शीलता है।"

परन्तु सत्य तो यह है कि जिस मनुष्य में श्रेष्ठ आचरण करने की क्षमता है, शक्ति है, वही तो श्रेष्ठ आचरण कर सकता है और वही करता भी है। क्या मेकेञ्ज़ी महोदय किसी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दे सकते हैं, जिसमें उच्च श्रेष्ठ आचरण करने की क्षमता न हो, परन्तु वह श्रेष्ठ आचरण करता हो। इसके विपरीत जिसमें श्रेष्ठ आचरण कि क्षमता न हो, वह श्रेष्ठ आचरण कर भी नहीं सकता। हमारे कथन का निष्कर्ष यह है कि जिसमें श्रेष्ठ आचरण करने की क्षमता है, प्रवृत्ति है, वही श्रेष्ठ आचरण करता है।

## नीति-विज्ञान में दर्शन

नीति-विज्ञान में एक सीमा तक दर्शन भी है। दर्शन-शास्त्र ईश्वर, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध पर विचार करता है, अन्वेषण करता है और इसके सम्बन्ध में सिद्धान्तों की स्थापना करता है। परन्तु आचार-शास्त्र का सम्बन्ध केवल मानवों के आचरण से है। वह समस्त प्राणी-जगत के व्यवहार से सम्बन्ध नहीं रखता और न ईश्वर से ही उसका प्रत्यक्षतः सम्बन्ध है। नीति-विज्ञान ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता और प्रकृति की नित्यता को स्वीकार कर अपने विषय का प्रतिपादन करता है। इनके सम्बन्ध में वह कोई अन्वेषण नहीं करता।

## नीति-विज्ञान के विषय की व्यापकता

यह हम पहले बतला चुके हैं कि आचार-शास्त्र मानवों के लिये नैतिक आदर्श की स्थापना करता है। यद्यपि उसका मानव-आचार के

स्वभाव, उत्पत्ति और उसके विकास से सम्बन्ध नहीं है, तथापि सदाचार का आदर्श स्थापित करने के लिये आचार के स्वभाव का भी ज्ञान होना आवश्यक है। आचरण चरित्र का बाह्य रूप है और आचरण का आन्तरिक रूप ही चरित्र है। चरित्र के निर्माण में मन, बुद्धि और मानसिक प्रवृतियों का महत्वपूर्ण योग है। मानसिक प्रवृतियों के द्वारा ही चरित्र का निर्माण होता है। इसी लिये आचार-शास्त्र को चरित्र-निर्माण का विज्ञान कहा जाता है। इसी लिये आचार-शास्त्र को मनुष्यों के कार्यों, मन्तव्यों, उद्देश्यों और ऐच्छिक तथा अनैच्छिक कार्यों की प्रकृति के विषय में अन्वेषण करना पड़ता है। अतः उसका आधार मनोविज्ञान है।

आचार-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानवों के लिये सर्वोत्कृष्ट नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा करना है। इसके लिये उसे नैतिक निर्णय द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी पड़ती है। नैतिक निर्णय के लिये नैतिक भावनाओं की परीक्षा भी आवश्यक है। अतः आचार-शास्त्र को नैतिक भावनाओं की प्रकृति एवं उनकी उत्पत्ति तथा नैतिक निर्णय से उनके सम्बन्ध पर विचार करना पड़ता है। नैतिक निर्णय के साथ नैतिक दायित्वों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब हम नैतिक दृष्टि से किसी कार्य को उचित मानते हैं, तो हम उसे पूरा करने के नैतिक दायित्व को भी अनुभव करते हैं। और जब हम किसी कार्य को अनुचित समझते हैं, तो नैतिक दायित्व का अनुभव कर हम उससे बचे रहने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिये आचार-शास्त्र को नैतिक दायित्व या कर्तव्य की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में भी विचार करना पड़ता है। हम अपने आचरण के लिये किसके प्रति उत्तरदायी हैं? गुण और अवगुण की परीक्षा के क्या साधन हैं? दण्ड देने के लिये आचार-शास्त्र का क्या मत है? इन सब प्रश्नों पर नीति-विज्ञान या आचार-शास्त्र-विचार करता है।

यही नहीं इनके सिवाय आचार-शास्त्र मानवों के लिये नैतिक कर्तव्य

निर्धारित करता है। वह सदगुणों और दुर्गुणों की परीक्षा करता है और अन्त में सदगुणों की प्राप्ति के लिये साधन प्रस्तुत करता है।

नीति-शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह मानव-समाज की अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और धार्मिक समस्याओं पर विचार कर समाज का पथ-प्रदर्शन करता है। आचार-शास्त्र की मनोवैज्ञानिक समस्याएं हैं—ऐच्छिक कार्यों की प्रकृति, कार्यों की प्रेरणाओं का वर्गीकरण, इच्छा और सुख का सम्बन्ध; दार्शनिक समस्याएं हैं— मानव-प्रकृति, व्यक्तित्व, इच्छा की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता, ईश्वर की पूर्णता और विश्व या ब्रह्माण्ड की नैतिक व्यवस्था; सामाजिक समस्याएं हैं—व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध; और राजनीतिक समस्याएं हैं—व्यक्ति का, नागरिक का राज्य से सम्बन्ध।

इस प्रकार आचार-शास्त्र का क्षेत्र अति व्यापक है। समाज-नीति, राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में आचार-शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

## नीति-विज्ञान-की प्रणाली

नीति-विज्ञान के प्रतिपादन की पाश्चात्य देशों में अनेक प्रणालियां प्रचलित हैं। हरबर्ट स्पेंसर आचार–शास्त्र की प्रणाली भौतिक अथवा जीव–वैज्ञानिक मानता है। वह वनवासियों और पशुओं के आचरण में सदाचार का मूल-स्रोत मानता है। लेज़ली स्टीफन सदाचार को सामाजिक विकास का परिणाम मानता है। यह ऐतिहासिक प्रणाली है। बेंथम और बेन आचार-शास्त्र के प्रतिपादन के लिये मनोवैज्ञानिक प्रणाली को स्वीकार करते हैं। हेगल आदि दार्शनिक इसका प्रतिपादन आध्यात्मिक प्रणाली के आधार पर करते हैं।

परन्तु विचार करने पर ये सभी प्रणालियां अपूर्ण सिद्ध होती हैं। वास्तव में आचार-शास्त्र की प्रणाली वैज्ञानिक और आध्यात्मिक ही

है। हमारे देश में प्राचीन ऋषि मुनियों ने आचार-शास्त्र का प्रतिपादन आध्यात्मिक प्रणाली के आधार पर ही किया है। गीता में इसी प्रणाली के आधार पर आचार-शास्त्र की व्याख्या की गयी है।

आचार-शास्त्र में नैतिक वातावरण का निरीक्षण किया जाता है। इसलिये उसके लिये वैज्ञानिक प्रणाली का आश्रय लिया जाता है। वह नैतिक आदर्श की स्थापना के लिये विचार करता है। इसलिये उसे दार्शनिक प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है।

## नीति-शास्त्र की उपयोगिता

नीति या आचार-शास्त्र की उपयोगिता मानव–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट देख पड़ती है। उसके द्वारा हम वास्तव में 'उचित' 'श्रेष्ठ' 'अनुचित' और 'निकृष्ट' कार्यों में अथवा आचरण में अन्तर समझ सकते हैं। हमारी सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संस्थाओं में जो दोष हैं, जो बुराइयां हैं, उनका निवारण आचार-शास्त्र के द्वारा ही संभव है। वह हमें नैतिक आदर्श का ज्ञान कराता है। इस शास्त्र के अध्ययन और उसके प्रकाश में आचरण करने से हम अपनी सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संस्थाओं में महत्वपूर्ण सुधार कर सकते हैं।

आचार-शास्त्र हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना प्रभाव डालता है। हमारी समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का उचित समाधान हमारी उचित और अनुचित की भावना पर निर्भर है।

चरित्र-निर्माण में आचार-शास्त्र का सब से महत्वपूर्ण स्थान है। चरित्र अथवा शील सौष्ठव मनुष्य की सब से मूल्यवान् सम्पत्ति है। जिस मनुष्य में सच्चरित्रता है, आचार है, शील है, वह संसार में सदैव सफलता प्राप्त करता है। सफलता प्राप्त करने की यह पहली सीढ़ी है। यदि हमारे समाज में सदाचार न रहे, तो हम निरे पशु बन जायं, यदि

हमारे धर्म में सदाचार न रहे, तो वह निरा अंध-विश्वास मात्र बन जायगा और यदि हमारी राजनीति और शासन-प्रणाली में आचार-शास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तों की उपेक्षा की जाय तो अनैतिक कानून बनने लगेंगे। हमारे आर्थिक जीवन में जो घोर विषमता दीख पड़ती है, उसका कारण यह है कि हमारे देश में सम्पत्ति का उत्पादन, विनिमय और वितरण नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं है। न्याय और समानता के सिद्धान्तों के आधार पर हमारे आर्थिक जीवन की व्यवस्था नहीं की गयी है। शिक्षा में नीति-तत्व की सब से अधिक आवश्यकता है। भारत में जब से ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई है, तब से हमारी शिक्षण-संस्थाओं में न कोई धार्मिक शिक्षा दी जाती है और न नैतिक शिक्षण का ही प्रबन्ध है। विश्वविद्यालयों में बी० ए० के छात्रों को, जो दर्शन विषय का अध्ययन करते हैं, आचार-शास्त्र ( Ethics ) का भी अध्ययन करना पड़ता है। परन्तु यह कोरा पुस्तकीय सैद्धान्तिक अध्ययन ही है, और बहुत कम छात्र ही इस विषय का अध्ययन करते हैं। क्योंकि यह ऐच्छिक विषय है, अनिवार्य नहीं है। हमारा मन्तव्य तो यह है कि प्राथमिक पाठशालाओं के छात्रों से लेकर विश्व विद्यालयों के छात्रों एवं छात्राओं तक को आचार-शास्त्र की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाय। जब तक शिक्षा-संस्थाओं में ऐसी व्यवस्था नहीं की जायगी, तब तक हमारे देश की नैतिक उन्नति होना सम्भव नहीं।

## दूसरा अध्याय

# नीति-विज्ञान और अन्य विज्ञान

आचार-शास्त्र का मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति विज्ञान अर्थ-शास्त्र, दर्शन, अध्यात्म-शास्त्र और धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इस अध्याय में हम आचार-शास्त्र का इन विज्ञानों से जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करना उचित समझते हैं।

### नीति-विज्ञान और मनोविज्ञान

नीति-विज्ञान मानव आचार का विज्ञान है। वह मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट आदर्श की प्रतिष्ठा कर उसकी प्राप्ति के लिये साधन बतलाता है। वह मानव-समाज के समक्ष नैतिक आदर्श की व्याख्या करता है और नैतिक नियमों एवं सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा। ये सब नियम और सिद्धान्त मानव की इच्छा-शक्ति एवं मनोबल पर निर्भर करते हैं। चरित्रवान् व्यक्ति के लिये अपने मन पर नियंत्रण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अतः आचार-शास्त्र का मन और उसकी प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विषय मनोविज्ञान का है। परन्तु मनोविज्ञान हमें केवल यह बतलाता है कि मानस की प्रवृत्तियां कैसी हैं और मानव किस प्रकार व्यवहार या आचरण करता है। परन्तु आचार-शास्त्र का विषय इससे भिन्न है। वह यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य की प्रवृत्तियां कैसी होनी चाहियें और उसे दूसरे मानवों के साथ कैसा आचरण करना चाहिये।

इच्छा, इच्छा-शक्ति और कार्यों से उसके सम्बन्ध, कार्यों के उद्देश्य, मन्तव्य, दुःख-सुख की अनुभूति, नैतिक और अनैतिक आचरण के भेद, तर्क और इच्छा के सम्बन्ध, मानव-इच्छा की स्वतन्त्रता और इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों के सम्यक विश्लेषण के आधार पर ही हम मानव-आचरण का समुचित रूप से मूल्याङ्कन कर सकते हैं और उसी दशा में हम मनुष्य की सर्वोत्तम भलाई का निश्चय कर सकते हैं।

इस प्रकार यद्यपि आचार-शास्त्र का आधार मनोविज्ञान है, तथापि इन दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। मनोविज्ञान का क्षेत्र आचार-शास्त्र की अपेक्षा अति व्यापक है। वह समस्त मानसिक प्रक्रियाओं एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है। उसका सम्बन्ध ज्ञान, भावना और इच्छा इन तीनों मानसिक प्रवृत्तियों से है। परन्तु आचार-शास्त्र का सम्बन्ध इच्छा से है। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि मनुष्य किन्ही परिस्थितियों में कैसी कल्पना करता है, कैसे विचार करता है, उसकी इच्छा क्या होती है और किस प्रकार चेष्टा करता है। परन्तु आचार-शास्त्र यह बतलाता है कि किसी परिस्थिति में मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिये। इस प्रकार मनोविज्ञान मानव-जीवन के तथ्यों का अध्ययन करता है और नीति-विज्ञान मानव-जीवन के आदर्श को लक्ष्य में रखकर मनुष्यों के लिये नैतिक जीवन के तत्वों पर प्रकाश डालता है।

## नीति-विज्ञान और समाज-शास्त्र

नीति—विज्ञान या आचार-शास्त्र का समाज-शास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज-शास्त्र मानव-समाज की उत्पत्ति, विकास और बनावट पर प्रकाश डालता है। वह सामाजिक संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों आदि की व्याख्या करता है। आदि काल में मानव-समाज की क्या स्थिति थी, उसके रीति-रिवाज और परम्पराएं कैसी थीं, उनमें कालान्तर में क्या क्या सुधार हुए अथवा किन २ क्षेत्रों में अवनति हुई आदि का विवेचन समाज-शास्त्र का विषय है।

मानव सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसकी कल्पना संभव नहीं। और व्यक्तियों के एक सुसंगठित, सुव्यवस्थित समुदाय का नाम ही समाज है। समाज व्यक्तियों के अस्तित्व—सामुहिक अस्तित्व से भिन्न वस्तु नहीं है। आचार-शास्त्र मनुष्य के समक्ष सर्वोत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करता है। परन्तु मनुष्य समाज का ही अंग है। इसलिये आचार-शास्त्र को समाज के हित का ध्यान रखकर ही व्यक्तियों के लिये नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। वैयक्तिक हित का सामाजिक हित के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आचार शास्त्र और समाज-शास्त्र में महत्वपूर्ण मौलिक अन्तर है। समाज-शास्त्र समाज के समुदायों के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य प्रदान करता है और आचार-शास्त्र नैतिक आदर्श के प्रकाश में उनकी व्याख्या करता है, उनका मूल्याकन करता है और उनके सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है।

समाज-शास्त्र विशुद्धतः एक सैद्धान्तिक अन्वेषण मात्र ही है। परन्तु आचार-शास्त्र का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह हमारे जीवन पर प्रभाव डालता है। उसका अपना व्यावहारिक मूल्य है। समाज-शास्त्र समाज के सामुहिक मस्तिष्क और उसकी प्रवृत्तियों का विवेचन करता है; परन्तु आचार-शास्त्र मानव की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करता है।

## नीति विज्ञान और राजनीति

राजनीति शासन का विज्ञान है। वह शासन के अधिकारों, कर्तव्यों एवं दायित्वों की व्याख्या करती है। सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर वह व्यक्तियों के आचरण का नियमन करती है, संस्थाओं का संगठन करती तथा नियमों और कानूनों का निर्माण करती है। शासन का निर्माण जनता ने—समाज ने अपने हित-साधन के हेतु किया है। वह समाजोपयोगी कानून और नियम बनाकर उन्हें राज्य में प्रचलित करता

है और बल-प्रयोग द्वारा उनका नागरिकों से पालन कराने की व्यवस्था करता है। जो इन नियमों का उल्लंघन करते हैं, उन्हें शासन दण्ड देता है। शासन का विकास समाज ने इसी हेतु किया कि व्यक्तियों के व्यक्तिगत एवं साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा हो सके और समूचे समाज का हित साधन। व्यापक अर्थ में राजनीति का लक्ष्य समाज की एक ऐसी व्यवस्था कायम करना है जिसमें मानव अपने सर्वोत्कृष्ट आदर्शों की प्राप्ति कर सके।

इस प्रकार राजनीति और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट है। ये दोनों ही मानव-आचार और चरित्र का नियमन करते हैं। ये दोनों ही मानव-हित को लक्ष्य में रखकर नियमों और सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं।

परन्तु इन दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। दोनों के आदर्श भिन्न हैं। आचार-शास्त्र मानव को नैतिक पूर्णता की ओर अग्रसर करता है; परन्तु राजनीति सार्वजनिक उपयोगिता या लाभ का ही अधिक ध्यान रखती है। वह प्रत्येक नियम की रचना करते समय मनुष्य के नैतिक आदर्श को अपने लक्ष्य में नहीं रखती। राजनीति में कानूनों पर अमल दण्ड के भय से होता है। जो राज्य के कानून की अवहेलना करते हैं, उन्हें राज्य दण्ड देता है। परन्तु आचार-शास्त्र इस बल-प्रयोग की नीति में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में दण्ड-विधान अनैतिक है।

राजनीति मानवों के बाहरी कार्यों पर ही दृष्टिपात करती है; परन्तु आचार-शास्त्र उन आन्तरिक मन्तव्यों और प्रेरणाओं के नैतिक मूल्यों पर विचार करता है जो उसके कार्यों से व्यक्त होती है। राज्य का कानून अधिक से अधिक किसी मनुष्य के मन्तव्य पर ही विचार करता है; परन्तु आचार-शास्त्र उसके मन्तव्य और उद्देश्यों के आन्तरिक रूप और उसके प्रभाव पर भी विचार करता है। राजनीति व्यक्तियों के आन्तरिक मानसिक जीवन का स्पर्श तक नहीं करती। जब यह कहा जाता है कि

व्यवस्थापक-परिषद् का क़ानून नागरिकों को नैतिक या सदाचारी नहीं बना सकता, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि बल-प्रयोग के द्वारा मनुष्य में नैतिक गुणों का विकास नहीं हो सकता। यदि राज्य का क़ानून नशा-बन्दी कर देता है और इस प्रकार बाध्य होकर मनुष्य शराब न मिलने के कारण उसका प्रयोग न करे, तो इसमें नैतिकता कहां रही? यदि आज ही राज्य इस क़ानून को हटा दे या रद्द कर दे तो वे लोग फिर शराब पीने लगेंगे। आचार-शास्त्र का राजनीति से अधिक महत्व है। उसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साम्राज्य है। राजनीतिक नियमों, कानूनों और यहा तक कि शासन-विधान और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर विचार करते समय हम नैतिक आदर्शों की रक्षा का ध्यान रखते हैं। राज्य का कोई क़ानून उचित है या अनुचित इसकी परख हम आचार-शास्त्र के नियमों के प्रकाश में ही करते हैं।

## नीति-विज्ञान और अर्थ-शास्त्र

अर्थ-शास्त्र का सम्बन्ध सम्पत्ति से है। सम्पत्ति मनुष्य का साध्य नहीं, साधन है। वह मानव-कल्याण और सामाजिक उत्कर्ष के लिये एक साधन-मात्र है। समाज में सम्पत्ति, अर्थ या धन का उत्पादन, वितरण और प्रयोग ऐसे ढंग से होना चाहिये कि वह मानवता के लिये अधिक से अधिक कल्याणकारी हो। जब हम यह विचार करने लगते हैं कि मनुष्यों के लिये वह अधिक से अधिक कल्याणकारी कैसे हो, तब स्वभावतः हम नैतिक भलाई की दृष्टि से ही विचार करते हैं। इस प्रकार नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। नीति-शास्त्र के लेखक श्री मेकेञ्ज़ी का यह विचार है कि "यदि हम आर्थिक वस्तुओं का वास्तविक मूल्य समझना चाहते हैं, तो हमें उन पर नैतिक भलाई की दृष्टि से विचार करना होगा। भोजन, वस्त्र, मकान आदि सब आर्थिक वस्तुएं हैं और उनके द्वारा अनेक उद्देश्यों की पूर्ति होती है—जैसे जीवन-निर्वाह, जीवन-विकास, जीवन-विस्तार या आयु-

वृद्धि, सुख-स्वातंत्र्य की प्राप्ति, शान्ति, और सुरक्षा आदि की व्यवस्था। उपर्युक्त वस्तुओं का मूल्य इन उद्देश्यों के महत्व पर निर्भर है।

और इन उद्देश्यों की महत्ता का निश्चय अपने जीवन के सर्वोत्कृष्ट आदर्श पर विचार करने से ही हो सकता है।" ❀

## नीति-शास्त्र, दर्शन और अध्यात्म-शास्त्र

यद्यपि नीति या आचार-शास्त्र का सम्बन्ध इह-लोक के मानव-जगत और उसके मानसिक व्यापारों से है, तथापि वह कुछेक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक प्रश्नों का उचित रूप से समाधान किये बिना अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। जब हम मानव-जीवन के नैतिक कार्यों पर विचार करते हैं, तब स्वभावतः हम मानव-व्यक्तित्व, और विश्व तथा उसके नियन्ता के सम्बन्ध में विचार किये बिना नहीं रह सकते। इसलिये आचार-शास्त्र पर विचार करते समय हमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं पर भी विचार करना पड़ता है। आचार-शास्त्र मनुष्यों के लिये सर्वोत्तम आदर्श की स्थापना करता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या वह आदर्श वास्तविक है? वास्तविक से उसका क्या सम्बन्ध है? क्या ईश्वर-प्राप्ति अथवा आत्म-दर्शन ही सब से उत्तम लक्ष्य या आदर्श है? क्या मनुष्य इस लक्ष्य की प्राप्ति स्वतंत्रता से कर सकता है? क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है? क्या यह नैतिक आदर्श इहलोक में ही प्राप्त हो सकता है? क्या संसार में इसकी प्राप्ति के लिए अनूकूल परिस्थितियां हैं? क्या आत्मा अमर है? हमारे कर्मों का फल हमें मिलता है या नहीं? आदि प्रश्न आध्यात्मिक और दार्शनिक हैं। आचार-शास्त्र का इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। संक्षेप में आचार-शास्त्र को निम्न लिखित दार्शनिक प्रश्नों की परीक्षा करना उचित है:—

(१) आत्मा का स्वरूप और प्रकृति—आत्मा का स्वरूप क्या है? इस विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है और इस मतभेद के आधार

❀ Mackenzie : Manual of Ethics p. 22

पर आचार-शास्त्र की विविध प्रणालियों का निर्माण हुआ है।

(२) इच्छा की स्वतंत्रता—क्या मनुष्य कार्य करने में स्वतंत्र है? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह तो वास्तव में सदाचार की आधार-शिला है।

(३) कर्म-फल का सिद्धान्त—क्या मनुष्य के कर्मों का फल मिलता है? क्या उसके कर्मों का फल इसी लोक में मिलता है या परलोक में?

(४) समाज के साथ व्यक्ति का क्या सम्बन्ध है?

(५) आत्मा का संसार से क्या सम्बन्ध है? क्या नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये यह संसार उपयुक्त परिस्थितियां प्रदान करता है?

(६) क्या नैतिक आदश की प्राप्ति के लिये ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास आवश्यक है? क्या वास्तव में ईश्वर इस जगत का नियंता है अथवा यह जगत स्वयं निर्मित हुआ है? ईश्वर का साक्षात्कार ही नैतिक आदर्श है अथवा इससे भिन्न कोई और भी आदर्श है?

## नीति शास्त्र और धर्म

धर्म आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध पर विचार करता है। धर्म के द्वारा मानवात्मा ईश्वर का साक्षात्कार करती है। आचार-शास्त्र भी ईश्वर और आत्मा की प्रकृति तथा स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करता है। इसलिये आचार-शास्त्र और धर्म का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। यहां हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि आचार-शास्त्र का धर्म से सम्बन्ध है, तथापि आचार किसी मजहब विशेष की सम्पत्ति नहीं है और न यह आवश्यक ही है कि सदाचारी बनने के लिये, नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिये, किसी मजहब-विशेष की शरण ली जाय। मजहबों में हम धर्म के वास्तविक रूप का, उसकी आत्मा का दर्शन नहीं पाते, प्रत्युत वे तो सांसारिक लोगों के अज्ञान से लाभ उठाने के लिये तथाकथित 'धर्म के ठेकेदारों' के 'गोरखधन्धे' हैं जिनमें फंस कर लोग न इस लोक में सुख और शान्ति पाते हैं और न परलोक में

ही। क्योंकि वे आत्मा और ईश्वर के वास्तविक स्वरूप और सम्बन्ध पर मनन, चिन्तन और ध्यान किये बिना पंडे और पुरोहितों तथा मुल्लाओं और पादरियों के द्वारा प्रचारित अंध-विश्वासों और उन अनैतिक विचारों को ही ग्रहण करने में अपना कर्तव्य-पालन समझते हैं।

दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि संसार में सदाचार की उत्पत्ति धर्म से हुई है या सदाचार ने धर्म को जन्म दिया है। आस्तिकवादी यह मानते हैं कि धर्म ही सदाचार का स्रोत है। ईश्वर की आज्ञा ही धर्म है और वही सदाचार है। कुछेक दार्शनिकों का यह विचार है कि सदाचार ही धर्म का स्रोत है। परन्तु सत्य तो यह है कि सदाचार और धर्म इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सदाचार के अभाव में धर्म एक सारहीन और निर्जीव विधान रह जायगा और इसी प्रकार धर्म से रहित सदाचार भी मनुष्य में अहंकार की वृद्धि कर उसके नैतिक पतन का कारण बन जायगा। धर्म ही मनुष्य को अहंकार शून्य बना सकता है।

---

तीसरा अध्याय

# नीति-विज्ञान और मनोविज्ञान

नीति विज्ञान का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार मानव की विवेक-बुद्धि, इच्छा और चेष्टा से सम्बन्ध रखता है और इन सब का विवेचन मनोविज्ञान का विषय है। इसलिये आचार-शास्त्र का आधार मनोवैज्ञानिक है।

मनुष्य के सभी कार्य नैतिक नहीं होते। उसके वे ही कार्य आचार-शास्त्र के विषय हैं जो ऐच्छिक हैं अथवा जिन्हें वह अभ्यास के कारण करता है। नैतिकता का विवेक-बुद्धि से सम्बन्ध होने के कारण हम जड़-जगत की क्रियाओं एवं पशु-जगत के कार्यों एवं व्यापारों के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय नहीं दे सकते। प्रकृति के कार्यों में नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी प्रकार बालकों के कार्यों में भी नैतिकता या अनैतिकता नहीं होती। क्योंकि उनमें विवेक-बुद्धि का विकास नहीं होता। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क विकार-ग्रस्त हो जाता है अथवा जो विक्षिप्त हो जाता है, उसके कार्यों के बारे में हम नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठाते। इसी प्रकार विवेक-बुद्धियुक्त मनुष्य के अनैच्छिक कार्यों के विषय में भी नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न पैदा नहीं होता। श्वासोच्छ्वास, हृदय की गति, पलकों की गति, छींक, खांसी, शिशुओं में स्तन पान आदि सब अनैच्छिक कार्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन कार्यों में मनुष्य अपनी

विवेक-बुद्धि का उपयोग करता है, केवल उन्हीं के विषय में हम अपना नैतिक निर्णय दे सकते हैं।

## स्नायु-मण्डल और शारीरिक व्यापार

मानसिक व्यापारों का शरीर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये मानसिक व्यापारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शरीर-रचना का भी थोड़ा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

शरीर मास के भिन्न २ टुकड़ों का एक ढांचा मात्र ही नहीं है, प्रत्युत एक क्रमबद्ध स्नायु-मण्डल की सुगठित रचना है। यह शरीर अनेक कोष्ठों और तंतुओं से मिलकर बना है। इन्हीं तंतुओं और कोष्ठों की क्रियाओं के साथ मानसिक व्यापार सम्बद्ध रहते हैं। प्रत्येक मानसिक व्यापार के साथ कोई न कोई शारीरिक व्यापार सहकारी होता है। आशा, निराशा, सुख, दुख शोक इत्यादि मानसिक व्यापार विशेष शारीरिक व्यापारों के सहचारी नज़र आते हैं। जब हमारी आत्मा बाह्य-जगत में कोई क्रिया उत्पन्न करना चाहती है तब बाह्य जगत हमारी आत्मा को प्रभावित करना चाहता है। इसके लिये हमारा स्नायु-मण्डल ही साधन बनता है।

स्नायु-मण्डल दो अंगों के संयोग का नाम है। मस्तिष्क दण्ड-संस्थान और समस्त शरीर में फैली हुई नसों का नाम ही स्नायु-मण्डल है। मस्तिष्क दण्ड-संस्थान में निम्न लिखित अंग-प्रत्यंग शामिल हैं :—

(१) मेरुदण्ड
(२) मज्जा दण्ड-मूल
(३) छोटा मस्तिष्क
(४) बड़ा मस्तिष्क
(५) सेतु

स्नायु-चक्र मेरुदण्ड के दोनों ओर रहता है। यहा से कई तन्तु हृदय, फेफड़े, आमाशय की ओर फैले हुए हैं। इन अङ्गों की क्रियाएं अधिकांश इसी स्नायु-मण्डल के नियंत्रण में होती हैं। अतः यह स्नायु-

मण्डल हमारी जीवन-सम्बन्धी क्रियाओं का स्वामी है और इसका मानसिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

## स्नायु क्या है?

स्नायु-मण्डल पर विचार करने से पूर्व हम पहले स्नायु को समझ लेना चाहते हैं। स्नायु डोरे की भांति हैं जो मस्तिष्क से निकल कर सारे शरीर में जाल की तरह बिछी हुई हैं। मज्जादण्ड-मूल इन स्नायुओं का केन्द्र है। स्नायु-द्रव में दो प्रधान तत्व हैं—एक श्वेत और दूसरा भूरा। श्वेत द्रव में बहुत ही सूक्ष्म रेसे होते हैं। भूरे द्रव में रेसों के सिवा कोष्ठ भी होते हैं। रेसे इतने सूक्ष्म होते हैं कि जो सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से ही देखे जा सकते हैं। इनकी लम्बाई एक इंच के १/१५०० वें भाग से लेकर १/३०,००० वें भाग तक की होती है। कोष्ठ छोटे गोल होते हैं। उनमें से प्रत्येक दो-तीन रेसों को पैदा करता है। वे एक इंच के १/३०० वें भाग से १/१२,००० वें भाग के बराबर होते हैं। इन कोष्ठों में रक्त भरा रहता है और शरीर में शक्ति इनके कारण ही होती है।

स्नायु दो प्रकार की होती हैं। जो स्नायु बाहर के प्रभावों को मस्तिष्क की ओर ले जाती हैं, उन्हें ज्ञानवाहक स्नायु कहते हैं और जो स्नायु मस्तिष्क के आदेश को बाहर पहुंचाती हैं, उन्हें क्रियावाहक स्नायु कहते हैं। जो स्नायु शरीर के दूरवर्ती भागों से चलकर मस्तिष्क की ओर प्रभावों को ले जाती हैं, उनको प्रायः मार्गवर्ती कोष्ठ-समूहों से शक्ति ग्रहण करनी पड़ती है। क्योंकि वे इसके बिना उन प्रभावों को दूर तक ले जाने की सामर्थ्य नहीं रखतीं। इनमें से कई कोष्ठ-समूह छोटे छोटे मस्तिष्कों का कार्य करते हैं। परन्तु उनका यह नियंत्रण साधारण और मस्तिष्क के मुख्य नियंत्रण के आधीन होता है। ये कोष्ठ-समूह एक प्रकार से मस्तिष्क के कार्य में सहायता देते हैं। जो क्रियाएं इन कोष्ठ-समूहों के आधीन रहती हैं, उनको सहज-क्रिया कहते हैं।

मस्तिष्क स्नायु-मण्डल १२ युगल-तन्तुओं में विभाजित है। प्रथम

युगल तन्तु गंध-सम्बन्धी है। दूसरा युगल दृष्टि-सम्बन्धी। तीसरा, चौथा और छठवां युगल नेत्र से सम्बन्ध रखता है। नेत्र की गति का नियंत्रण इन्हीं से होता है। पाचवें युगल का सम्बन्ध स्वाद से है। सातवें युगल का सम्बन्ध चेहरे के पुट्ठों से है। आठवें युगल का सम्बन्ध श्रवण से है। नौवें युगल का सम्बन्ध जिह्वा और गले से है। दसवें युगल का सम्बन्ध फेफड़े, यकृत और आमाशय से है। ग्यारहवें युगल का सम्बन्ध क्रियावाहक तन्तु से है और बारहवां युगल जिह्वा का क्रिया-वाहक तन्तु है।

## मेरुदण्ड और उसके कार्य

मेरुदण्ड को रीढ़ भी कहते हैं। मेरुदण्ड शरीर के बाह्य भागों और मस्तिष्क में सम्बन्ध जोड़ने के लिये माध्यम का काम करता है। यह श्वेत द्रव से बना हुआ है। इसमें भूरा द्रव भी होता है। मेरुदण्ड मस्तिष्क से जुड़ा रहता है और पीठ के बीच में होकर नीचे कमर तक व्यापक होता है। मस्तिष्क में जिस स्थान पर मेरुदण्ड का संयोग होता है, वहां इसका आकार कुछ बड़ा हो जाता है। इसमें भूरा द्रव भी अधिक आजाता है। करीब १। इंच लम्बा जो भाग होता है उसे मज्जा-दण्ड-मूल कहते हैं। यह स्नायु-मण्डल का केन्द्र होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मेरुदण्ड का मुख्य कार्य है समस्त शरीर में स्नायु-तन्तुओं का विस्तार करना। इनमें सिर के स्नायु शामिल नहीं हैं। मस्तिष्क के सन्देश को शरीर के अंगों तक ले जाना और शरीर के प्रभाव को मस्तिष्क की ओर ले जाना इनका कार्य है। इन स्नायु तन्तुओं में आधे ज्ञानवाहक हैं और आधे क्रियावाहक। यदि क्रियावाहक तन्तु किसी प्रकार नष्ट हो जायं तो शरीर क्रियाशून्य हो जाता है। हम अपने अंगों का संचालन नहीं कर सकते। यदि ज्ञान-वाहक तन्तुओं को हानि पहुंच जाय तो हम शरीर में दुःख-सुख का अनुभव नहीं कर सकते यद्यपि हम क्रिया-तन्तुओं की सहायता से अपने शरीर को गति दे सकते हैं। यदि मेरुदण्ड

स्वयमेव किसी प्रकार से बिगड़ जावे तो बाह्य प्रभावों का मस्तिष्क तक पहुंचना सर्वथा असम्भव हो जाता है।

## मज्जा-दण्ड-मूल

मज्जा-दण्ड-मूल उस भाग को कहते हैं जो मेरुदण्ड को मस्तिष्क से मिलाता है। यह एक महत्वपूर्ण अंग है। मज्जा-दण्ड-मूल और मेरुदण्ड के सहयोग से शरीर की महत्वपूर्ण अनैच्छिक क्रियाओं का संपादन होता है। ये क्रियाएं हमारी इच्छा के न होने पर भी होती रहती हैं। श्वासोच्छ्वास, रक्त-संचालन, आमाशय की क्रिया, खांसना, छींकना, पलक मारना, आंख की पुतली की गति, सोते हुए व्यक्ति के हाथ में कुछ रख देने से उसका मुट्ठी बन्द कर लेना, शिशु के कपोल का स्पर्श करने से उसके मुख पर हास्य की रेखा आदि अनैच्छिक कार्य हैं।

## मस्तिष्क और उसके कार्य

मस्तिष्क के दो भाग हैं। एक को छोटा मस्तिष्क और दूसरे को बड़ा मस्तिष्क कहते हैं। मस्तिष्क का बड़ा भाग हमारे सिर के अधिक भाग को घेरता है। आगे मस्तक के पास से शुरु होकर पीछे उभरे हुए भाग तक फैला रहता है। यह दो अर्द्ध वृत्तों में विभाजित होता है। एक दाहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर। दोनों के बीच में एक सीधी लम्बी दरार होती है। यह मस्तिष्क के सामने से नीचे की ओर चली जाती है। इसी प्रकार दो और बड़ी दरारें मस्तिष्क के विभाग करती हैं। एक आंख के स्थान से पीछे और दूसरी ऊपर को जाती है। इस मस्तिष्क में श्वेत द्रव भरा रहता है। भूरा द्रव भी होता है, परन्तु वह कम होता है। मस्तिष्क-सम्बन्धी सभी कार्य इसी बड़े मस्तिष्क द्वारा सम्पादित होते हैं। जब इसमें विकार हो जाता है तो भावना, भाव, इच्छा, ज्ञान आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य गति का संचालन कर सकता है, परन्तु उसका नियमन वह विवेकपूर्वक नहीं कर सकता। वह निरुद्देश्य होती है।

छोटा मस्तिष्क बड़े मस्तिष्क के पीछे होता है। एक कान से दूसरे

कान तक फैला रहता है। यह बायें और दायें दो भागों में बंटकर मज्जा-दण्ड-मूल में दोनों ओर लिपटा हुआ है। इसमें भूरा द्रव बाहर और श्वेत अन्दर की ओर रहता है। छोटे मस्तिष्क का कार्य पट्ठों की गति का नियमन तथा सारे शरीर का नियंत्रण है। यदि उसे किसी प्रकार की हानि पहुंच जावे तो मनुष्य अपनी शारीरिक चेष्टाओं को वश में नहीं कर सकता और चलते-फिरते आगे, पीछे, दायें, बायें गिरने लगता है। मादक द्रव्यों का सेवन प्रायः छोटे दिमाग को प्रभावित करता है। इसी लिये शराबी का अपने शरीर पर नियंत्रण नहीं रहता।

---

## चौथा अध्याय

# मन, आत्मा और शरीर

भारतीय अध्यात्मवाद मन, आत्मा और शरीर इन तीनों की सत्ता को स्वीकार करता है। इन तीनों के संयोग का फल ही मानव-जीवन अथवा जीवन है और इनके वियोग का नाम ही मृत्यु है।

शरीर तीन प्रकार के हैं। एक स्थूल-शरीर, दूसरा सूक्ष्म-शरीर और तीसरा कारण-शरीर। अन्नमय-कोष और प्राणमय-कोष का नाम ही स्थूल शरीर है। जो अन्न या खाद्य हम सेवन करते हैं, उसी से हमारा स्थूल-शरीर बनता है। इस स्थूल-शरीर में सूक्ष्म प्राण भी हैं। इसलिये स्थूल-शरीर के दो भाग हैं—अन्नमय-कोष और प्राणमय-कोष।

दूसरा सूक्ष्म-शरीर है। इसके दो भाग हैं—मनोमय-कोष और ज्ञानमय-कोष। यह शरीर सूक्ष्म है। इसलिये हम इसे अपने नेत्रों से देख नहीं सकते, परन्तु अनुभव कर सकते हैं। जब हम स्वप्न देखते हैं तो स्थूल-शरीर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता; परन्तु स्थूल-शरीर द्वारा किये गये व्यापारों की प्रतिच्छाया हमारे सूक्ष्म-शरीर पर उसी प्रकार पड़ती है जैसे फोटो की प्लेट पर बाह्य दृश्य का प्रतिबिम्ब।

तीसरा कारण-शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। इसका स्वप्न में भी भान नहीं होता। इसे आनन्दमय-कोष कहते हैं। जीव जिस समय सुषुप्ति अवस्था में होता है, उस समय उसका अनुभव होता है। वस्तुतः इसका अनुभव भी केवल आनन्द-रूप ही होता है। क्योंकि उस समय सुख,

दुःख, ज्ञान आदि की वृत्तियां विलीन हो जाती हैं।

मनुष्य जो कर्म करता है उनका स्थूल-शरीर पर पूरा प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्म-शरीर पर तो उसके संस्कार ही रह जाते हैं। जिस प्रकार फोटो की प्लेट पर किसी सुन्दर भव्य भवन का चित्र अंकित किया जाय, तो उसमें भवन की आकृति की सूक्ष्म रूप-रेखा ही देख पड़ेगी; उसमें लम्बाई, चौड़ाई आदि की स्थूलता दिखलाई नहीं देगी।

कारण शरीर पर इन संस्कारों का सूक्ष्मतम प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त इन सूक्ष्मतम संस्कारों के साथ आत्मा का दूसरे शरीर के साथ संयोग होता है।

## मन की मीमांसा

मन और मस्तिष्क ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। मस्तिष्क का विवेचन विगत अध्याय में किया जा चुका है। उससे यह स्पष्ट है कि मस्तिष्क स्थूल-शरीर का एक अंग है जो सिरोभाग में स्थित है। मन सूक्ष्म होता है और उसकी सूक्ष्मता भी अनुपम है। भौतिकवादी या अनात्मवादी मन को चेतन मानते हैं। वे आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते। परन्तु वास्तव में मन स्वयं चेतन नहीं है। वह शरीर की भांति ही जड़ है। उसमें जो चेतनता दीख पड़ती है, वह आत्मा के कारण ही है।

बृहदारण्यकोपनिषद् की टीका में श्री शङ्कराचार्य ने मानस की सत्ता के विषय में दो प्रमाण दिये हैं। प्रथम प्रमाण यह है कि हमें समस्त इन्द्रिय-ज्ञान मानस के द्वारा ही प्राप्त होता है। दूसरा प्रमाण है हमारी निर्णय की क्षमता। हम जिस व्यक्ति को देख नहीं सकते, वह हमारा स्पर्श करता है, और हम उसके स्पर्श मात्र से उसे पहचान लेते हैं। केवल मात्र स्पर्शेन्द्रिय से हमें यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जो साधन हमें यह ज्ञान देता है, वही मन है।

मन जड़ है। आत्मा सत्-चित है, और ब्रह्म—परमात्मा सत्-चित-

आनन्द है। आत्मा आनन्द की प्राप्ति में प्रयत्नवान् है। शरीर में आत्मा उसी प्रकार व्यापक है जिस प्रकार गुलाब के पुष्प में सौरभ। हमें जो इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त होता है उसका कारण है मन से इन्द्रियों का सम्बन्ध। स्वप्न में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये हमें इन्द्रिय-ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। समस्त इन्द्रियों के संस्कार हमारी आत्मा एक साथ ग्रहण नहीं करती। इसका कारण यही है कि वे संस्कार हमें मानस द्वारा ही प्राप्त होते हैं। मन की यह वृत्ति है कि वह एक समय में एक ही विषय का ग्रहण करता है। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि कोई वस्तु हमारे सामने होती है और हमें दीख नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि हमारा मानस किसी अन्य विषय के चिन्तन में लगा रहता है। हम यह कहते भी हैं कि 'हमारा उधर ध्यान नहीं था।'

सुषुप्ति अवस्था में मन हमारे हृदय में रहता है; स्वप्नावस्था में वह ग्रीवा में रहता है और जागृतावस्था में वह दाहिनी आंख में रहता है। जब हम मनन और चिन्तन करते हैं, तब हम अपनी उंगली ठोड़ी पर रख लेते हैं, ग्रीवा को सीधी ओर घुमा लेते हैं और अपनी दृष्टि को दोनों नेत्रों के मध्य-भाग में स्थिर कर लेते हैं और मन में विचार करने लगते हैं।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारा मानस जागृतावस्था में हमारे दक्षिण नेत्र में रहता है।

## मन की प्रकृति

मन संसार में सब से गतिशील पदार्थ है। वह परिवर्तनशील है। क्षण-क्षण में उसमें परिवर्तन होता रहता है। उसकी चंचलता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उसकी निम्नलिखित वशिष्टताएं हैं—परिवर्तन, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म।

मन परिवर्तनशील है। प्रति क्षण उसमें परिवर्तन होता रहता है।

इसीलिये उसका नियन्त्रण अत्यन्त कठिन है। महात्मा कृष्ण ने गीता में कहा है—

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम।**
**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५, अध्याय ६।**

हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है। इसलिये उसको अवश्य वश में करना चाहिये।

मन की चंचलता के कारण ही मनुष्य विविध प्रकार की चेष्टाएं करता है। मन वश में न होने से मनुष्य उसका दास बनकर उसकी सन्तुष्टि के लिये प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार चेष्टा मन का प्रधान लक्षण है।

मन सदैव नयी नयी वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है; वह सुख और आनन्द के पीछे पागल बन जाता है। जब मन किसी विषय में रत हो जाता है, तब उसे उसमें अतिशय सुख अनुभव होता है। यदि उस समय उसे कोई दुःख भी पहुंचे, तो उसका उसे अनुभव नहीं होता। एक सैनिक रण-भूमि में अपने शत्रु पर आक्रमण करने में इतने सुख का अनुभव करता है कि उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती और आहत हो जाने पर भी उसे दुःख का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यही है कि उसका मन शत्रु पर आक्रमण करने में अतिशय सुखानुभूति प्राप्त करता है।

मन की एक प्रधान विशिष्टता यह है कि वह एक समय में एक ही विषय का ग्रहण करता है। वह जब देखता है, तब सुन नहीं सकता; और जब गंध का सेवन करता है, तब स्पर्श का आनन्द नहीं ले सकता। परन्तु हम लोग ऐसा ही समझते हैं कि मन एक समय में एक साथ ही अनेक विषयों का ग्रहण करता है। हमारे ऐसा समझने का कारण यह

है कि मन सब से गतिशील पदार्थ है। उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक विषय के बाद तुरन्त ही दूसरे विषय को इतनी शीघ्रता के साथ ग्रहण करता है कि हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मन एक ही समय में अनेक विषयों का सेवन करता है। सहज्ञान वास्तव में निर्विकल्प समाधि में ही संभव है। समाधि-अवस्था में भूत और भविष्य वर्तमान में लीन हो जाता है।

मन की शक्तियां तीन प्रकार की हैं– (१) इच्छा शक्ति, क्रिया-शक्ति, और ज्ञान-शक्ति। पहले मन में इच्छा का आविर्भाव होता है; फिर मन उसकी पूर्ति के लिये चेष्टा करता है, प्रयत्न करता है— यह क्रिया-शक्ति है। वह इच्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिये साधन और उपाय सोचता है— यही ज्ञान-शक्ति है।

मन इतना शक्तिशाली है कि उसे शास्त्रकारों ने मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण माना है—"मन एवं मनुष्यणा कारणं बन्ध मोक्षयोः"। मन ही कर्मों का कर्ता है और वही मनुष्य के समस्त कार्यों के लिये उत्तरदायी भी है। मन और आत्मा के संयोग से ही जीवन सम्भव है। उनका वियोग नहीं हो सकता। मन जीवात्मा को विषयों में लीन करता है। इसी लिये वेद, उपनिषद्, दर्शन और गीता में मन को स्थिर करने और उसे वश में करने के उपाय बतलाये गये हैं।

मन दो प्रकार के माने गये हैं--शुद्ध मन और अशुद्ध मन। शुद्ध मन शुद्ध-संकल्प-युक्त होता है और अशुद्ध मन अशुद्ध-संकल्प-युक्त होता है। उपनिषदों में मन को प्राकृतिक तत्व माना गया है। मन की शुद्धता अथवा अशुद्धि मनुष्य के भोजन पर निर्भर है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है :—

"जो भोजन हम सेवन करते हैं, वह तीन रूपों में परिवर्तित हो जाता है; उसका सब से स्थूल भाग मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर

निकल जाता है; उसका शेष भाग रक्त और वीर्य का रूप धारण कर लेता है और उसके सूक्ष्म भाग से मन की रचना होती है।"

आगे इसी उपनिषद् में लिखा है कि "जिस प्रकार दधि के मंथन से उसका सार भाग मक्खन के रूप में ऊपर आजाता है, उसी प्रकार सेवन किये हुए अन्न का सर्वश्रेष्ठ भाग मन के रूप में परिवर्तित हो जाता है।"

गीता में तीन प्रकार की मानसिक वृत्तिया मानी गयी हैं—सात्विक, राजस और तामस। इन तीन वृत्तियों की रचना भी तीन प्रकार के भोजन से होती है। अतः भोजन भी सात्विक, राजस और तामस—तीन प्रकार का माना गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में शुद्ध आहार के विषय में लिखा है—

**आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धि :।**
**सत्त्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति :।**
**स्मृतिलाभे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।** ७। २६। २

"जब भोजन शुद्ध होता है, तो स्वभाव शुद्ध हो जाता है। और जब स्वभाव शुद्ध हो जाता है, तो स्मृति दृढ़ हो जाती है। और जब मनुष्य की स्मृति सुदृढ़ हो जाती है, तो उसके सब बन्धन दूर हो जाते हैं।"

## मन और शरीर

उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट है कि शरीर और मन एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। मन के प्रत्येक भाव, चेष्टा और विचार का शरीर पर प्रभाव पड़ता है और शरीर की स्थिति से मन प्रभावित होता है। शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होने पर मन पर भारी असर पड़ता है। वह क्लान्त और उत्साहहीन हो जाता है।

हमारे मनोविकारों—प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, प्रतिस्पर्द्धा,

आदि का हमारे शरीर और उसके अवयवों पर प्रभाव पड़ता है। दुर्विचारों, अशुद्ध भावों और संकल्पों से हमारे शरीर के कोष्ठ नष्ट हो जाते हैं, और फलतः हमारे हृदय, यकृत, आमाशय, पित्ताशय आदि रोगग्रस्त हो जाते हैं। इसी लिये यह कहा जाता है कि मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा ही वह बन जाता है। आपको यह स्मरण रखना चाहिये—अपने हृदय पर अंकित कर लेना चाहिये कि प्रत्येक कुविचार, दुर्भाव और अशुद्ध संकल्प शरीर के कोष्ठों का नाश करता है और प्रत्येक सुविचार, शुद्ध संकल्प और शुद्ध भाव शरीर में नये कोष्ठों की रचना करता है।

हमारे विचारों में प्रत्येक परिवर्तन का प्रभाव हमारी मनोरचना पर पड़ता है और तुरन्त ही उसका प्रभाव हमारे शरीर पर दृष्टिगत होने लगता है। हमारे मस्तिष्क के स्नायु-मण्डल में एक क्रिया होने लगती है। इस प्रक्रिया के द्वारा स्नायविक कोष्ठों में अनेक रासायनिक और विद्युत-सम्बन्धी परिवर्तन होने लगते हैं।

जब हम प्रसन्न होते हैं, जब हम किसी के प्रति उदार विचार व्यक्त करते हैं अथवा स्नेह-भाव व्यक्त करते हैं, तो हमारे शरीर में एक स्फूर्ति व्याप्त हो जाती है। परन्तु जब हम क्रोध या घृणा के शिकार हो जाते हैं, तो हमारे मुख और अंगों की आकृति विकृत हो जाती है।

भारत के सुप्रसिद्ध योगी स्वामी शिवानन्द ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—

"क्रोधावेश मस्तिष्क के कोष्ठों को बड़ी हानि पहुंचाता है; वह रक्त में विषैले रासायनिक द्रवों को प्रवाहित कर देता है और शरीर में एक विकृति पैदा कर देता है। अम्ल रस तथा पित्ताशय एवं अनेक ग्रन्थियों के रसों का शोषण कर देता है। वह आपकी शक्ति, ओज और स्फूर्ति को नष्ट कर शीघ्र ही वृद्धावस्था के लक्षण पैदा कर जीवन का क्षय

करता है।" ॰|॰

## आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

पाश्चात्य और भारतीय प्रकृतिवादी न ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं और न जीवात्मा की सत्ता में। उनके मतानुसार मनुष्य का मस्तिष्क ही चेतना का आदि स्रोत है। उसके कोष्ठों की एक क्रिया-विशेष का नाम ही चेतना है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे मस्तिष्क को ही चेतना का मूल मानते हैं।

परन्तु वास्तव में यह प्रकृतिवाद विश्व की प्रहेलिका का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता। यदि प्रकृतिवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो कर्म-फल के सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना असम्भव हो जायगी। मानव-जीवन में हम जो विषमता देखते हैं, उसकी व्याख्या कर्म फल के सिद्धान्त के अभाव में सम्भव नहीं। और यदि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न माना जाय तो प्रश्न यह उठता है कि सब मनुष्य समान स्थिति में क्यों नहीं पैदा होते। यह इतना भेद-भाव और अन्तर इस जगत में क्यों है? क्या यह वैषम्य यह संकेत नहीं करता कि मनुष्य की स्थिति अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार है?

इस सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। समान समान का उत्पादन कर्ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जड़ से चेतन की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जड़ शरीर अथवा जड़ मस्तिष्क जीवन या चेतना का आदि-स्रोत नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रकृतिवाद हमारी समस्या का समाधान प्रस्तुत न कर हमें एक विचित्र उलझन में डाल देता है।

इस विषय में वैदिक सिद्धान्त ही उपयुक्त और युक्तिसंगत है। उसके अनुसार यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों

॰|॰ Mind: Its Mysteries and control: Swami Shiva Nand.

के संयोग का फल है।

ईश्वर एक है। इसे सब धर्मों ने स्वीकार किया है। एकेश्वरवाद संसार में प्राचीन समय से माना जाता रहा है। परन्तु ईश्वर के स्वरूप, गुणों और कर्मों के सम्बन्ध में सब धर्मों में घोर मतभेद है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर एक है। वह सर्वशक्तिशाली, सृष्टि-कर्ता, अजन्मा, अजर, अमर, अनादि, सर्व-व्यापक, निराकार, न्यायकारी और सृष्टि का पालन करने हारा तथा जगत का नियन्ता है। इस विषय में अधिक व्याख्या करना हमें अभिप्रेत नहीं है। इसलिये अब हम आत्मा के स्वरूप पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

आत्मा नित्य, अनादि, अजर, अमर, अनन्त, और अविनाशी तथा निराकार है। ईश्वर एक है; परन्तु आत्मा अनन्त हैं। ईश्वर आत्मा और प्रकृति के संयोग से इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है। जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में जन्म धारण करता है। जब वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह ईश्वर की प्राप्ति का आनन्द भोगता है। इसी का नाम मोक्ष है। जब तक वह जन्म-मरण के बन्धन में रहता है, तब तक उसे विविध योनियों में शरीर धारण करना पड़ता है।

योगिराज श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है—

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नपि भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥**

**द्वितीय अध्याय**

यह आत्मा किसी काल में न जन्म लेता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनंच दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
द्वितीय अध्याय ॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता और अग्नि इसे जला नहीं सकती तथा जल इसको भिगो नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती।

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥**
द्वितीय अध्याय

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।

आत्मा अजर और अमर है; उसका किसी भी काल में नाश नहीं होता। शरीर आत्मा का साधन है। वह प्राकृतिक है और परमाणुओं तथा पंच तत्वों के संयोग से बना है। इसलिये वह परमाणुओं के वियोग से नष्ट हो जाता है। शरीर में आत्मा व्याप्त रहती है और जब तक शरीर में आत्मा की व्याप्ति है, तभी तक उसमें चेतनता है। उसकी अव्याप्ति ही शरीर की मृत्यु है।

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि शारीरिक और मानसिक व्यापार अन्योन्याश्रित हैं। शारीरिक व्यापारों का मानसिक व्यापारों पर प्रभाव पड़ता है और मानसिक व्यापारों का शारीरिक व्यापारों पर। मन और शरीर एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

अब विचारणीय यह है कि क्या शरीर और आत्मा भी एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

आत्मा शरीर-साम्राज्य का सम्राट है—चक्रवर्ती राजा है। और मन उसका सचिव—प्रधान-सचिव है और ज्ञानेन्द्रियां उसके अधीनस्थ राज-

कर्मचारी-गण हैं। यदि सम्राट अपना नियंत्रण प्रधान-सचिव पर न रखे तो उसे अपने साम्राज्य से हाथ धोते देर न लगेगी। प्रधान-सचिव की उचित सलाह को मानना चाहिये, परन्तु उस पर नियंत्रण रखना आवश्यक है जिससे वह शासन-नीति को पथ-भ्रष्ट करके स्वयं सम्राट न बन बैठे। इसलिये आत्मा मन के द्वारा शरीर की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और शारीरिक व्यापारों का मानसिक व्यापारों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके सूक्ष्म संस्कारों से आत्मा भी प्रभावित होता है।

यदि शारीरिक व्यापारों से मन प्रभावित न हो और यदि मानसिक संस्कारों से आत्मा अप्रभावित रहे, तो यह जीवन ही निरुद्देश्य बन जाय। मनुष्य-जीवन इस जगत में निरुद्देश्य बन जायगा। मानव-जीवन का लक्ष्य है, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाना—ईश्वर-प्राप्ति। यही वास्तव में जीव-मुक्ति है। यदि मनुष्य के शारीरिक व्यापारों और मानसिक व्यापारों का आत्मा पर प्रभाव न पड़े, तो फिर वह न किसी प्रकार की साधना कर सकेगा और न ईश्वर-प्राप्ति के लिये योग-समाधि ही।

———

## पांचवां अध्याय

# नीति-विज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार

"नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान" शीर्षक अध्याय में हम यह बतला चुके हैं कि मनुष्य के सभी कार्य नैतिक और अनैतिक नहीं होते। उसके वे ही कार्य नैतिक या अनैतिक होते हैं, जिन्हें वह अपनी इच्छा से करता है। जिन कार्यों पर उसका नियंत्रण नहीं, उनके सम्बन्ध में नैतिकता अथवा अनैतिकता का प्रश्न उठाना सर्वथा अनुचित है। पागल और अबोध बालकों के कार्यों को हम नीति-विज्ञान या आचार-शास्त्र की कसौटी पर नहीं परख सकते।

हमारे कथन का प्रयोजन यह है कि मनुष्य जिन कार्यों को अपनी इच्छा से करता है अथवा जिन कार्यों को वह अभ्यास के कारण करता है, उन्हीं के सम्बन्ध में हम नैतिक निर्णय दे सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऐच्छिक कार्यों के पीछे कर्त्ता की स्वतंत्र इच्छा अपनी सत्ता रखती है। इसी प्रकार अभ्यास और आदतें भी नैतिक निर्णय के विषय हैं। अभ्यास ऐच्छिक कार्यों की पुनरावृत्ति का ही नाम है। जब किसी कार्य को बार बार किया जाता है, तो वह 'अभ्यास' कहलाता है। कालान्तर में अभ्यास या आदतें स्वभाव के अंग बन जाती हैं। अभ्यास और आदतें मनुष्य के ऐच्छिक कार्यों के फल हैं। अभ्यस्त कार्यों पर इच्छा-शक्ति का नियंत्रण होता है। उदाहरण लीजिये। एक बालक अपने पिता का अनुकरण कर सिगरेट पीना शुरु करता है। पहले वह

छिपकर. अकेले में पीने की चेष्टा करता है और जब वह पीना सीख लेता है तो कुछ दिन बाद खुल्लम-खुल्ला पीने लगता है। पहले वह एक सिगरेट रोज पीता था अब वह दस सिगरेट पीने लगता है। उसे सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। इस प्रकार यह उसके स्वभाव का अंग सा बन जाती है। एक दिन वह एक स्वास्थ्य-विज्ञान के विशेषज्ञ का शरीर-विज्ञान पर व्याख्यान सुनता है। उसे धूम्रपान के दोष साफ साफ दीखने लगते हैं। अब वह अपनी इच्छा-शक्ति को शक्तिशाली बनाकर सिगरेट पीने की आदत के परित्याग का प्रयत्न करता है। कुछेक दिनों में उसे सफलता मिल जाती है।

## ऐच्छिक व्यापारों का विश्लेषण

प्रत्येक ऐच्छिक कार्य की तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली मानसिक, दूसरी शारीरिक और तीसरी परिणामों की बाह्य अवस्था।

**१. मानसिक अवस्था** — (१) प्रत्येक व्यापार का आदि-स्रोत एक प्रेरणा में होता है। यह प्रेरणा अभाव की भावना का ही दूसरा नाम है। किसी विषय की इच्छा उत्पन्न होने से पूर्व हम किसी वस्तु का अभाव अनुभव करते हैं। इस अभाव या आवश्यकता की भावना में दुःख का भाव ओत-प्रोत होता है। परन्तु इसमें सुख की भावना का भी पुट होता है जो उस अभाव या आवश्यकता की पूर्ति होने के बाद मिलेगा। यह तब काल्पनिक होता है। हमारी प्रत्येक इच्छा का उदय 'आवश्यकता की भावना' से होता है। पहले हम किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करते हैं और फिर उसकी पूर्ति के लिये इच्छा पैदा होती है।

( २ ) यह आवश्यकता की भावना ही इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इच्छा में किसी लक्ष्य या उद्देश्य की भावना होती है जो अभाव या आवश्यकता की पूर्ति करती है। उसमें लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधना की भावना भी निहित होती है। इच्छा के साथ लक्ष्य या उद्देश्य संबद्ध होता है, और उस लक्ष्य में सुख या दुःख का भाव

भी निहित होता है। जब इच्छा के लक्ष्यों में कोई विरोध-भाव नहीं होता, तब मनुष्य तुरन्त ही उस इच्छा को कार्य में परिणत करने का निश्चय कर लेता है। लेकिन जब लक्ष्यों में परस्पर संघर्ष होता है, तब इच्छा तुरन्त ही कार्यरूप में परिणत नहीं होती।

( ३ ) उद्देश्यों या इच्छाओं में विरोध--कभी कभी अनेक उद्देश्य या इच्छाएं एक ही साथ पैदा होती हैं और वे सभी अपनी तृप्ति चाहती हैं। उनके लक्ष्य भिन्न भिन्न होते हैं। अतः ऐसी इच्छाओं में परस्पर विरोध पैदा हो जाता है। इस कारण मन विविध प्रकार की इच्छाओं की ओर आकर्षित होता है। समस्त इच्छाओं की पूर्ति एक साथ सम्भव नहीं होती। कभी कभी इन इच्छाओं के लक्ष्यों में परस्पर विरोध होता है। यदि एक की पूर्ति होगी, तो दूसरी अतृप्त ही रह जायगी। इस प्रकार मानस में इच्छाओं में द्वंद्व-युद्ध होने लगता है।

इच्छाओं के इस द्वंद्व-युद्ध का अन्त करने के लिये दो राजमार्ग हैं। पहला राजमार्ग है आत्म-संयम। सहिष्णुता, परित्याग, तप, सन्तोष, धैर्य आदि आत्म-संयम के ही विविध रूप हैं। इच्छा के लिये दूसरा राजमार्ग यह है कि आदर्श पर काल्पनिक व्यापार की कल्पना की जाय। एक व्यक्ति रोग-शय्या पर पड़ा हुआ यह इच्छा करता है कि मैं चौरंघी के नयनाभिराम दृश्य का सुख लूटूं। परन्तु असमर्थ होने के कारण वह कल्पना का आश्रय ले लेता है। उसके चक्षुओं के सम्मुख चौरंघी का काल्पनिक दृश्य उपस्थित हो जाता है। इससे उसकी इच्छा की तृप्ति हो जाती है।

(४) मनन— जब इच्छाओं या उद्देश्यों में परस्पर विरोध खड़ा हो जाता है, तब अन्तरात्मा विचार-मन्थन में लीन हो जाती है। वह किसी कार्य के गुण-दोषों का विचार करने लगती है। इस प्रकार वह अन्तिम निर्णय पर पहुंचती है।

(५) निर्णय— मनन के उपरान्त अन्तरात्मा एक उद्देश्य को चुन

लेती है और शेष उद्देश्यों को अस्वीकार कर देती है। इस प्रकार अन्तर्द्वंद्व का अन्त हो जाता है।

(६) निश्चय— अनेक कार्य या व्यापार ऐसे हैं कि निर्णय के बाद तुरन्त ही पूरे हो जाते हैं। परन्तु अनेक इच्छाओं की पूर्ति में काफी समय लगता है। इसलिये इस अवधि में निर्णय पर दृढ़ रहने की आवश्यकता होती है। इसे ही निश्चय कहते हैं।

इच्छाओं को दो प्रधान कारणों से उत्तेजना मिलती है। प्रथम, शरीर की वास्तविक आवश्यकताओं के कारण और द्वितीय, सुखानुभूति से। भूख, प्यास, घूमना-फिरना, भाषण करना आदि शारीरिक आवश्यकताएं हैं। यदि हम शारीरिक आवश्यकता के प्रश्न पर थोड़ी देर के लिये विचार न करें, तो इच्छाओं को उत्तेजन देने वाला प्रधान कारण सुखानुभूति ही होगा। जब एक बार किसी सुख का अनुभव मनुष्य को हो जाता है तो उसकी स्मृति ही भविष्य में उसकी पुनर्प्राप्ति का कारण बन जाती है। शिशु में स्तन पान की प्रवृत्ति होती है; परन्तु नये सुखों के साथ उसमें इच्छाओं का भी उदय होता है।

२ शारीरिक अवस्था— किसी कार्य या व्यापार की दूसरी अवस्था शारीरिक होती है। जब मनुष्य किसी कार्य का निर्णय एवं निश्चय कर लेता है तो वह तुरंत ही शारीरिक व्यापार में परवर्तित हो जाता है।

अन्तरात्मा में किसी व्यापार का निर्णय व निश्चय होने के बाद ही शारीरिक अवयवों और मांस-पेशियों में एक प्रकार की गति होने लगती है और इस प्रकार शरीर उस व्यापार-विशेष के लिये प्रस्तुत हो जाता है। जब हम दौड़ना चाहते हैं, जब हम किसी को मारना चाहते हैं, अथवा जब हम किसी सुस्वादु और स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण करना चाहते हैं, तब हमारी मांस-पेशियों में गति-विशेष का हमें अनुभव होता है। भोजन के समय हमारे मुख की ग्रन्थियों से एक प्रकार का स्राव प्रवाहित होने लगता है। इस प्रकार किसी भी व्यापार के लिये

हमारा शरीर प्रस्तुत हो जाता है।

३—परिणामों की बाह्य अवस्था— व्यापार के परिणामों की बाह्य अवस्था में निम्न लिखित सम्मिलित हैं— (१) निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति (२) इष्ट साधनों की उपलब्धि (३) कुछ दृश्य परिणाम (४) कुछ अनिच्छित परिणाम।

## इच्छा का विश्लेषण

इच्छा की परिभाषा तो ऊपर दी जा चुकी है। वह किसी मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक उद्देश्य की प्राप्ति का नाम है। इच्छा अन्तःकरण की उस अवस्था का नाम है जो उसकी वर्तमान् अवस्था और भावी अवस्था के बीच असाम्य से पैदा होती है। इच्छा एक ऐसी मानसिक अवस्था है जिसमें निम्न लिखित तीन तत्व होते हैं— (१) ज्ञान-तत्व (२) भाव-तत्व और (३) कृति-तत्व।

(१) ज्ञान-तत्व— इच्छा में निम्न लिखित ज्ञान-तत्व होते हैं— (१) उस उद्देश्य का लक्ष्य का भाव जो आवश्यकता की पूर्ति करेगा। (२) साधनों का भाव जिनसे उद्देश्य की प्राप्ति हो सकेगी। (३) वास्तविक और आदर्श के अन्तर का ज्ञान अर्थात् वर्तमान अभाव की अवस्था की भावी आदर्श या पूर्ण अवस्था के साथ तुलना। इन दोनों अवस्थाओं में जितनी अधिक विषमता होगी उतनी ही अधिक इच्छा भी बलवती होगी।

(२) भाव-तत्व— इच्छा में दो भाव-तत्व प्रधान रूप से होते हैं— (१) वर्तमान् अवस्था के अभाव की दुःखपूर्ण भावना; (२) भविष्य में उसकी पूर्ति के भावी सुख की भावना।

(३) कृति-तत्व—इच्छा में तीसरा कृति-तत्व होता है। उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य चेष्टा करता है। किसी उद्देश्य की साधना के लिये कार्य में तत्पर हो जाने की प्रवृत्ति इच्छा का ही अङ्ग है।

इच्छा की प्रकृति कैसी है अथवा उसका क्या स्वरूप है— इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। जड़ और चेतन जगत में बड़ा भेद है। वृक्ष-वनस्पति जड़ हैं। उनमें चेतनता नहीं होती ❀। पशुओं में चेतनता है, परन्तु विवेक-बुद्धि का अभाव है। वनस्पति-वृक्षों को जल-वायु की आवश्यकता होती है; परन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता। पशुओं में चेतनता होती है; वे आवश्यकताओं का अनुभव भी करते हैं। वे दुःख—सुख का भी अनुभव करते हैं।

मनुष्य की इच्छा में केवल किसी वस्तु की चेतना और उसके साथ सुख—दुःख की भावना का ही अस्तित्व नहीं होता, प्रत्युत उस वस्तु में श्रेष्ठता की भावना का भी ज्ञान होता है। वह इष्ट वस्तु की श्रेष्ठता के प्रति जागरुक होता है। पशुओं में विवेक का अभाव है। इसलिये उन्हें किसी वस्तु की श्रेष्ठता का ज्ञान नहीं होता। वनस्पति-जगत की जो शारीरिक 'आवश्यकता' है, वही पशु-जगत की 'भूख' है और मानव जगत की वही 'इच्छा' है।

## इच्छा का आत्मा और चरित्र से सम्बन्ध

इच्छा विवेकशील मानव-जगत की मानसिक अवस्था का नाम है। पशु-जगत में उसका अस्तित्व नहीं है। वह किसी माने हुए श्रेष्ठ ध्येय की प्राप्ति के लिये चेतनतापूर्ण प्रवृत्ति का नाम है। अन्तरात्मा किसी इष्ट मार्ग को चुन लेती है और उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करती है। वह अपनी प्रकृति पर स्वभाव के अनुसार ही किसी कार्य की इच्छा करती है। इच्छा सदैव किसी न किसी वस्तु या व्यापार के लिये ही होती है और यह वस्तु या व्यापार वे ही होते हैं जो अन्तरात्मा को प्रिय हैं। उदाहरण के लिये मैं योगिराज् अरविन्द के ग्रन्थ पढ़ना

---

❀ परन्तु कुछ विचारक एवं दार्शनिक वनस्पति में भी जीवात्मा का अस्तित्व मानते हैं। भारतीय विज्ञानाचार्य श्री जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पतियों में जीवात्मा को माना है— लेखक।

चाहता हूं। इससे यह प्रमाणित है कि मेरा चरित्र और मेरी मनोदशा उनके ग्रन्थों के अध्ययन के अनुकूल है। यदि कोई व्यक्ति काम-सम्बन्धी साहित्य के पढ़ने की इच्छा करता है, तो इससे उसके चरित्र और आत्मा पर भी प्रकाश पड़ता है।

प्रसिद्ध लेखक म्यूरहैड ने अपने ग्रन्थ में लिखा है —"मानवीय इच्छाएं केवलमात्र विवेक-शून्य शक्तियां या प्रवृत्तियां नहीं हैं जो मनुष्य को इधर से उधर विचलित करती रहती हैं। उनका सम्बन्ध किसी न किसी पूर्व निर्दिष्ट वस्तु से होता है। इस कारण इच्छाओं और अंध-प्रवृत्तियों में बड़ा अन्तर है। दूसरे इन प्रवृत्तियों या शक्तियों का दो प्रकार से अन्तरात्मा से सम्बन्ध होता है। उनका आत्म-निर्मित चरित्र से सम्बन्ध होता है। इच्छाएं अन्तरात्मा में किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये उदय होती हैं। अन्तरात्मा से उनका एक दूसरे प्रकार का भी सम्बन्ध है। आत्मा की तृप्ति के लिये ही उनकी पूर्ति की जाती है। यदि मैं किसी वस्तु की इच्छा करता हूं तो इसका तात्पर्य यह है कि मैं उस वस्तु में अपनी आत्मा की तृप्ति देखता हूं।" ÷

## इच्छा की व्यापकता

प्रत्येक इच्छा का अपना एक निजी वातावरण होता है, जिसमें वह अपना जन्म और पोषण पाती है। यदि उस वातावरण से उसे दूर कर दिया जाय तो सरोवर से विलग मीन की भांति उसका नाश हो जाता है। इच्छा के इस वातावरण का निर्माण मानव-चरित्र पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति इच्छा के एक विशेष वातावरण में रहता है। यह वातावरण उसके चरित्र द्वारा तैयार होता है। इस प्रकार उसकी इच्छाएं उसके चरित्र से भिन्न नहीं होतीं। उसकी इच्छाओं का उसके चरित्र और स्वभाव से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि एक मनुष्य स्थायी रूप से इच्छा के एक ही वातावरण में नहीं

÷ Muirhead: The Elements of Ethics P. 53-54

रहता। विभिन्न अवस्थाओं में मनुष्य की इच्छाओं में परिवर्तन होता रहता है। किसी समय, किसी स्थिति में कोई इच्छा बलवती होती है, तो दूसरे समय में दूसरी इच्छा का प्राधान्य होता है। जब दो या अधिक इच्छाओं में संघर्ष होता है, तो उनमें से कोई एक इच्छा अन्त में सब से बलवती प्रमाणित होती है। इस बलवती इच्छा को म्यूरहेड ने लालसा का नाम दिया है। अशक्त इच्छा को केवल 'इच्छा' ही कहा जाता है। लालसा मनुष्य के चरित्र के अनुकूल हो सकती है और प्रतिकूल भी। जब वह उसकी इच्छा के वातावरण के अनुकूल, उसके चरित्र के अनुकूल होती है, तब उसे अभिलाषा कहा जाता है।

## उद्देश्य

मनुष्य की समस्त भावनाओं में उसके व्यापारों अथवा कार्यों के सभी अन्तिम लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का समावेश हो जाता है। हमारी समस्त क्रियाशीलता और हमारे पलायन को उत्तेजन प्रदान करनेवाले हमारे भाव एवं इन्द्रियों के दुःख-सुख ही हैं। इस प्रकार उद्देश्यों का वर्गीकरण भी दो वर्गों में किया गया है—( १ ) सुखद उद्देश्य और (२ ) दुःखद उद्देश्य।

उद्देश्य का प्रयोजन है उस प्रेरणा से जो हमें किसी कार्य की ओर प्रेरित करता है। इस अर्थ में मनुष्य का उद्देश्य सुख या दुःख की भावना ही होता है। सुखवादी लोग इसी अर्थ में उद्देश्य को स्वीकार करते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कार्यों या व्यापारों के उद्देश्य का आदि स्रोत भावना और भाव दोनों को मानता है।

पाश्चात्य नीति-विज्ञान के प्रसिद्ध लेखक श्री मेकेन्जी का मत इससे भिन्न है। वे लिखते हैं—

"नैतिक आचरण या क्रियाशीलता सोद्देश्य होती है। और कोई

भी सोद्देश्य कार्य केवल मात्र भावना से ही प्रेरित नहीं होता। उसे तो उस लक्ष्य के विचार से प्रेरणा मिलती है, जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। केवल भावना ही कार्य की प्रेरणा के लिये पर्याप्त नहीं है। जब मनुष्य किसी कार्य के लिये सनद्ध होता है तो केवल भावना के अतिरिक्त उसका कोई ऐसा लक्ष्य होना चाहिये जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। जो उद्देश्य हमें किसी कार्य की ओर प्रवृत करता है, वह है वाञ्छनीय लक्ष्य का विचार।" ‡

हम श्री मैकेञ्जी के उपर्युक्त मत से सहमत हैं। वास्तव में नैतिक व्यापारों को प्रेरणा केवल मात्र भावना या भाव से ही नहीं मिलती प्रत्युत भावना के साथ वांछनीय लक्ष्य का विचार भी जुड़ा रहता है।

## मन्तव्य

उद्देश्य क्या है, इस पर हम विचार कर चुके हैं। अब हमें यह विचार करना है कि उद्देश्य और मन्तव्य में क्या अन्तर है। उद्देश्य में केवल इष्ट लक्ष्य का भाव निहित होता है। परन्तु इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें साधनों का भी प्रयोग करना पड़ता है। वे साधन सुखद और दुःखद दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। मन्तव्य में इष्ट लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के लिये इष्ट साधन दोनों का समावेश हो जाता है। इस कारण मन्तव्य उद्देश्य से अधिक व्यापक है। उसमें अदृश्य परिणामों का भी समावेश होता है।

एक पिता अपने पुत्र को उसकी असत्य-भाषण करने की आदत को छुड़ाने के लिये दण्ड देता है। इसमें पुत्र की भलाई स्पष्ट रूप से पिता का उद्देश्य है। वह पुत्र को बेंत से पीटता है। यह उसका मन्तव्य है कि बालक की आदत में सुधार हो जाय। पीटने से उसे कष्ट होता है—शारीरिक वेदना होती है। परन्तु वास्तव में कष्ट देना या शारीरिक वेदना पिता के कार्य का उद्देश्य नहीं है।

‡ Mackenzie : Manual of Ethics P. 51-52.

यहां यह स्मरण रखना उचित है कि यद्यपि मन्तव्य में उद्देश्य निहित होता है; क्योंकि उसमें इष्ट लक्ष्य और इष्ट साधन दोनों का ही समावेश है, तथापि दोनों में पूर्णरूप से एक-रूपता नहीं है। महात्मा गान्धी ने फर्वरी १९४३ में यरवदा कारागार में २१ दिन का उपवास रखा। इसका उद्देश्य भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव करा देना था कि भारत में स्वातन्त्रय आन्दोलन के साथ जो विध्वंसात्मक लहर नौ अगस्त से चली उसके लिये कांग्रेस उत्तरदाई नहीं है; परन्तु इसमें उनका मन्तव्य अपनी मुक्ति भी थी। वे कारागार से मुक्ति चाहते थे। इसलिये जब सरकार ने यह व्यवस्था करने का निश्चय किया कि उपवास-काल में गांधी जी को मुक्त कर दिया जाय तो उन्होंने इसके जवाब में कहा कि मुक्त हो जाने पर वे उपवास का परित्याग कर देंगे।

## अभ्यास

अभ्यास या आदत निरन्तर ऐच्छिक कार्य का फल है। ऐच्छिक कार्य इच्छा-शक्ति के अनुसार ही होते हैं। परन्तु बार बार जब ऐसे कार्य किये जाते हैं. तो अभ्यास बन जाते हैं। अभ्यस्त कार्यों के संचालन के लिये न इच्छा-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और न किसी पथ-प्रदर्शन या विशेष प्रयास की। जब अभ्यस्त कार्य पूर्णतः स्वभाव का अंग बन जाता है, तब वह स्वतः होने लगता है। उसके संचालन की आवश्यकता नहीं रहती। अभ्यस्त कार्यों की यह विशेषता है कि वे सुविधापूर्वक, शीघ्रता से, एकरूपता के साथ, विवेकपूर्ण पथ-प्रदर्शन के बिना ही सम्पन्न हो जाते हैं। अभ्यास ऐच्छिक कार्यों के प्रतिफल हैं। इसलिये उनके विषय में आचार-शास्त्र अपना निर्णय दे सकता है। अतः हम अपने ऐच्छिक कार्यों के लिये नैतिक दृष्टि से जितने जिम्मेदार होते हैं; उतने ही अपने अभ्यस्त कार्यों के लिये भी होते हैं। अभ्यस्त कार्यों एवं आदतों से ही मनुष्य के आचार या चरित्र का

परिचय मिलता है।

## आचरण

मनुष्य के आचरण में ऐच्छिक और अभ्यस्त दोनों प्रकार के कार्यों का समावेश होता है। आचरण में अनैच्छिक कार्यों का समावेश नहीं होता। क्योंकि उनका सम्पादन मनुष्य की इच्छा-शक्ति के कारण नहीं होता।

आचरण में हम उन कार्यों एवं व्यापारों का भी समावेश नहीं करते जो किसी बाहरी आतङ्क या भय के कारण सम्पन्न किये जाते हैं। आचरण वास्तव में एक विवेकपूर्ण व्यक्ति के उन कार्यों को ही कह सकते हैं जिनका वह अपने लक्ष्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इसे हम दूसरे शब्दों में 'चेतनतापूर्वक सोद्देश्य क्रियाशीलता' कह सकते हैं। मनुष्य का आचारण उसके चरित्र की ओर निर्देश करता है। इस प्रकार आचरण चरित्र की बाह्य अभिव्यक्ति ही है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-शास्त्र के अनुसार आचरण में हम 'निरुद्देश्य कार्यों' की गणना नहीं कर सकते। हरबर्ट स्पेंसर ने आचरण शब्द का प्रयोग जिस व्यापक अर्थ में किया है वह उचित नहीं है। उसके अनुसार आचरण में सोद्देश्य और निरुद्देश्य दोनों ही प्रकार के कार्य शामिल हैं।

## चरित्र और स्वभाव

चरित्र मनुष्य के आचरण का आन्तरिक रूप है। चरित्र मनुष्य को साधना से प्राप्त होता है, परन्तु स्वभाव नैसर्गिक होता है। उसका निर्माण मनुष्य की साधना का फल नहीं है। मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का संस्कार करके, अभ्यास द्वारा अपने चरित्र का निर्माण करता है। चरित्र की अभिव्यक्ति आचरण में होती है। इस प्रकार चरित्र और आचरण उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे कि पुष्प और गंध। आप पुष्प को गंध से अलग नहीं कर सकते और उसी प्रकार आचरण

और चरित्र का भी पृथक्करण नहीं किया जा सकता। चरित्र के विषय में एक बात यह विशेषोल्लेखनीय है कि वह स्थिर नहीं है। उसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अतः चरित्र गतिशील है। कालान्तर में उसका विकास होता रहता है।

---

छठवाँ अध्याय

# नैतिक निर्णय

हम आरम्भिक पृष्ठों में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि आचार-शास्त्र मानवों के सर्वोत्कृष्ट आदर्श को लक्ष्य में रखकर ही किसी विषय का निर्णय करता है। वह इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य को लोक-संग्रह के लिये अपना आचरण कैसा बनाना चाहिये। वह इस विषय को महत्व नहीं देता कि मनुष्य का आचरण कैसा है और न इसका अध्ययन ही उसका विषय है। अतः आचार-शास्त्र का निर्णय अन्य निर्णयों से भिन्न है। वह आलोचनात्मक होता है। उसमें इस पर विचार किया जाता है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिये। आचार-शास्त्र मनुष्यों के लिये एक आदर्श निर्धारित करता है और उसी के प्रकाश में वह मानव-जीवन की आलोचना करता है। क्या सही है, क्या ग़लत है, क्या उचित है, क्या अनुचित है और क्या अच्छा है और क्या बुरा है, इस सब पर उस आदर्श के प्रकाश में ही विचार-विमर्श किया जाता है।

हम नैतिक कार्य अथवा नैतिक आचरण की आलोचना करते समय सदैव नैतिक आदर्श को ध्यान में रखते हैं, और उसी के अनुसार किसी कार्य पर, आचरण पर हम अपना निर्णय देते हैं।

## नैतिक निर्णय और तार्किक निर्णय

तर्क-शास्त्र, आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र ये तीनों शास्त्र सत्यं,

शिवं और सुन्दरम् को क्रमशः अपना लक्ष्य मानते हैं। तर्क-शास्त्र सत्य का शोधन करता है; आचार-शास्त्र शिवत्व की प्रतिष्ठा करता है और सौन्दर्य शास्त्र सुन्दर का दर्शन कराता है। जब हम सत्य या सुन्दर का आभास मिल जाता है, तब हमारा यह दायित्व नहीं होता कि हम उनकी प्राप्ति भी करें। परन्तु आचार-शास्त्र के नैतिक निर्णय के विषय में यह बात नहीं है।

जब यह निर्णय हो जाता है कि कोई कार्य नियत नैतिक आदर्श के आलोक में अच्छा है या बुरा तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि यदि वह उत्तम है, तो उसके अनुसार आचरण करें और यदि वह बुरा है, तो उसका परित्याग कर दें। इस प्रकार नैतिक निर्णय के साथ नैतिक दायित्व और नैतिक भाव भी सम्बद्ध हैं।

## क्या उद्देश्य के अनुसार निर्णय करना चाहिये ?

नैतिक निर्णय मनुष्य के आचरण पर ही दिया जा सकता है। आचरण में ऐच्छिक और सोद्देश्य कार्य शामिल हैं। अभ्यस्त कार्य भी उसके अंग हैं। इसलिये आचरण के दो अंग हैं—इच्छा और कार्य। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी कार्य का निर्णय उसके उद्देश्य के अनुसार करना चाहिये अथवा उसके परिणाम के अनुसार। इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों में तीव्र मतभेद है। बेंथम और मिल यह मानते हैं कि मनुष्य के नैतिक कार्यों का निर्णय उसके परिणामों से करना चाहिये। बेंथम का यह कथन है कि यदि कोई कार्य अच्छा अथवा बुरा है, तो उसका निर्णय उसके परिणामों से ही हो सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार 'किसी कार्य की नैतिकता का उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता।' दूसरी ओर काण्ट और बटलर का मत यह है कि 'हमारे कार्यों के परिणाम उन्हें नैतिकता प्रदान नहीं कर सकते।' बटलर का यह कथन है कि 'किसी कार्य का औचित्य या अनौचित्य उसके उस उद्देश्य पर निर्भर है जिससे प्रेरित होकर वह किया गया

है।'

जहां आन्तरिक उद्देश्य और उसके बाहरी परिणाम में सामंजस्य होता है, वहां उद्देश्य और परिणामों में अन्तर नहीं होता। इसलिये ऐसे कार्यों का निर्णय, चाहे उद्देश्य की जांच से किया जाय अथवा परिणाम की जांच से, समान ही होगा। परन्तु जहां आन्तरिक उद्देश्य और बाहरी परिणाम में विरोध होता है, वहां आन्तरिक उद्देश्य की श्रेष्ठता पर ही नैतिक कार्य का निर्णय देना उचित है।

कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य का उद्देश्य अच्छा होता है, परन्तु परिणाम बुरा होता है। एक सर्जन बड़ी कुशलता के साथ एक रोगी को ठीक करने के लिये ऑपरेशन करता है, परन्तु उसकी अत्यन्त सावधानी के बावजूद भी रोगी की मृत्यु हो जाती है। यहां परिणाम बुरा है, परन्तु उद्देश्य श्रेष्ठ है।

यहां नैतिक दृष्टि से सर्जन का कार्य बुरा नहीं माना जा सकता। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। एक यात्री रेलवे-आश्रय-स्थान में बेंच पर बैठा सेव और केला खारहा है। इतने में एक भिक्षुक, जो कई दिन से निराहार है, सामने आजाता है और फल मांगने लगता है; यात्री को क्रोध आजाता है, क्योंकि बार-बार मना करने पर भी वह नहीं टलता। तब वह एक सेव उसके सिर पर फेंककर मारता है। भिक्षुक उस सेव से चोटिल हो जाता है, परन्तु उसे खाकर वह अपनी भूख की तृप्ति कर लेता है। नैतिक दृष्टि से यह कार्य उचित नहीं। यात्री का उद्देश्य बुरा था; उसका परिणाम चाहे अच्छा क्यों न निकला हो।

## क्या मन्तव्य पर भी निर्णय दिया जासकता है?

उद्देश्य में मनुष्य द्वारा वांच्छित ध्येय निहित है। मन्तव्य में मनुष्य द्वारा वांच्छित ध्येय और उसकी प्राप्ति के साधन भी निहित होते हैं। अब विचारणीय यह है कि किसी उत्तम कार्य की सिद्धि के लिये यदि अनुचित साधनों का प्रयोग किया जाय, तो क्या नैतिक दृष्टि

से वह कार्य अनुचित होगा। क्या उत्तम ध्येय के कारण साधनों के अनौचित्य की उपेक्षा उचित है? हमारे देश में आतंककारी और क्रान्तिकारी सरकारी बैंकों और खज़ानों में डाके डालते थे और इस प्रकार संग्रहीत धन-राशि से अपनी मातृ-भूमि की मुक्ति के लिये क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन करते थे। उनका यह कार्य नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जासकता। क्योंकि वे वैध लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। बहुतेरे डाकू धनी लोगों को लूटकर गरीबों को धन बांट देते हैं। उनका यह कार्य भी अनैतिक है। महात्मा गांधी लक्ष्य और साधन की पवित्रता के बड़े समर्थक थे। उनका यह ध्येय रहा है कि भारत की स्वाधीनता अहिंसात्मक एवं सत्यपूर्ण साधनों से ही प्राप्त करनी चाहिये। वे अनेक बार यह कह चुके थे कि यदि हिंसा से भारत के लिये स्वराज्य प्राप्त किया गया तो उन्हें वह कदापि स्वीकार न होगा।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय उद्देश्यों और मन्तव्यों—साध्य और साधन--दोनों पर ही दिया जासकता है। कोई भी कार्य उसी समय उत्तम कहा जासकता है जब कि उसके साध्य और साधन दोनों ही श्रेष्ठ हों।

## क्या चरित्र पर भी निर्णय दिया जासकता है?

मन्तव्य का विश्लेषण करने पर यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि वह चरित्र का ही एक अंग है। मनुष्य का जैसा मन्तव्य होता है, उससे उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इसलिये मन्तव्य चरित्र का निर्देशक ही है। अतः आचार-शास्त्र के अनेक विद्वानों का यह अभिमत है कि चरित्र के सम्बन्ध में भी नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में आपत्ति यह की जाती है कि जब हम किसी मनुष्य के चरित्र पर अपना निर्णय देते हैं, तब हम उसकी नैतिक योग्यता अथवा उत्कृष्टता की ही परख करते हैं। परन्तु हम किसी व्यक्ति के चरित्र पर

विचार करने के बाद किसी कार्य या व्यापार के नैतिक गुणों का निश्चय नहीं करते। इसका कारण यह है कि यह आवश्यक नहीं कि एक चरित्रवान् व्यक्ति का मन्तव्य सदैव उत्तम ही हो अथवा एक दुश्चरित्र व्यक्ति का मन्तव्य सदैव निकृष्ट ही हो। इसलिये मन्तव्य के विषय में निर्णय देना ही उचित है।

जब हम किसी कार्य-विशेष पर अपना नैतिक निर्णय देते हैं, तब हमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र के अवलोकन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि एक व्यक्ति हमारे साथ मदिरापान करके दुर्व्यवहार करता है, मिथ्याभाषण करता है या हमसे गाली-गलौज करता है अथवा हमें धोखा देता है, तो हम निश्चयपूर्वक उसके सम्पूर्ण चरित्र पर कोई विचार किये बिना ही यह कह सकते हैं कि ये कार्य नैतिक दृष्टि से हेय हैं।

उपर्युक्त विवेचन का प्रयोजन यही है कि किसी व्यक्ति के चरित्र के विषय में निर्णय देने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उसके लक्ष्य, मन्तव्य, और कार्य के साधनों पर विचार करें। इनका विचार किये बिना उसके सम्पूर्ण चरित्र पर निर्णय देना अनुचित है।

सातवां अध्याय

# सदाचार का आदर्श

सदाचार का क्या आदर्श है, इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में घोर मतभेद है। आचार-शास्त्र ज्योतिष, मनोविज्ञान अथवा अध्यात्म की भांति केवल ज्ञान का ही विषय नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध मनुष्य के आचार से है। वह राजनीति, समाज-नीति, चिकित्सा, व्यावहारिक मनोविज्ञान आदि की तरह मनुष्य के व्यवहार का विज्ञान है। इसलिये उसका लक्ष्य—उपयोगी लक्ष्य होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई लक्ष्य होता है। अतः आचार-शास्त्र का भी एक लक्ष्य है, एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति मनुष्य के लिये अभिप्रेत है।

सदाचार का सम्बन्ध मानव-समाज से है। यदि कोई मनुष्य एक द्वीप में अकेला ही रहे, वहां दूसरा कोई मानव न हो, तो उसके कार्यों के सम्बन्ध में हम नीति-अनीति का विचार नहीं कर सकते। क्योंकि नीति या आचार का प्रश्न मानव-समाज—मानव—परिवार—में ही पैदा होता है। इस प्रकार इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आचार-शास्त्र का उद्देश्य मानव—कल्याण है। समाज में हम जितने नैतिक नियमों का विधान पाते हैं, उनका उद्देश्य भी तो यही है कि उनके पालन से अधिक से अधिक मनुष्यों को कम से कम दुःख पहुंचेगा।

अतः सदाचार के आदर्श अथवा लक्ष्य से तात्पर्य उस आदर्श या

कसौटी से है जिससे यह परीक्षा की जासके कि उचित-अनुचित, कर्म-अकर्म और श्रेष्ठ-निकृष्ट क्या हैं। इन द्वन्द्वों में हम अन्तर कैसे स्थापित कर सकते हैं ?

इस आदर्श के प्रश्न को लेकर दार्शनिकों में बहुत ही वाद-विवाद रहा है और उसका सिलसिला आज भी जारी है।

नैतिक नियमों को विधान या नैतिक विधान भी कहा जाता है। नैतिक नियम दो प्रकार के माने जाते हैं:—

( १ ) अनिवार्य नियम —इन नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य होता है। जो इनकी अवहेलना करता है, उसे दण्ड मिलता है और इस दण्ड की व्यवस्था एक संस्था द्वारा की जाती है जिसका निर्माण समाज करता है। इसे शासन या सरकार कहते हैं।

( २ ) ऐच्छिक नियम— दूसरे प्रकार के नैतिक नियम वे हैं जिनका पालन समाज में अनिवार्य नहीं होता; फलतः यदि कोई उनकी अवहेलना भी करे तो उसे शासन की ओर से दण्डनीय नहीं माना जाता। इन कार्यों या कर्तव्यों का पालन व्यक्ति अपना धर्म समझ कर ही करता है।

१. —मनुष्य के अनिवार्य कर्तव्य, जो प्रथम प्रकार के नैतिक अनिवार्य नियमों के अन्तर्गत शामिल हैं, इस प्रकार हैं:—

( १ ) किसी को ज्ञानपूर्वक या गलती से हानि न पहुंचाना।

( २ ) जिन कार्यों के पालन के लिये प्रतिज्ञा की है, उनका पालन करना।

( ३ ) विशेष कर्तव्यों का पालन।

( क ) जन-समूहों का शिष्टाचार।

( ख ) धार्मिक सहिष्णुता।

( ग ) स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी नैतिकता के नियम।

( घ ) माता-पिता का अपने बालकों के प्रति कर्तव्य।

( ङ ) आत्महत्या न करना।

( च ) मादक-द्रव्य सेवन न करना।

( छ ) मानवता का व्यवहार।

२. मनुष्य के ऐच्छिक सदाचार के अन्तर्गत निम्न लिखित कर्तव्यों का समावेश है:—

( १ ) अपने वयोवृद्ध माता-पिता तथा पितामह-पितामही आदि का पोषण।

( २ ) पितृ-ऋण की अदायगी।

( ३ ) वे सब कार्य जो विशुद्ध परोपकार की भावना से किये जाते हैं जिनके लिये न कोई शर्त होती है और न पुरस्कार ही। जैसे अनाथों का पालन-पोषण, पीड़ितों को भोजन कराना, समाजोपयोगी, साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा-संस्थाओं को दान आदि से सहायता।

सदाचार के आदर्श के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विविध मत प्रचलित हैं—भोगवाद, सुखवाद, समन्वयवाद, उपयोगितावाद, आत्म-दर्शन या मुक्ति, और अहिंसावाद।

हम इन अदर्शों की अगले अध्यायों में समीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रसंग में यहां केवल अनिवार्य नैतिक नियमों के विषय में विचार करना उचित समझते हैं।

कुछेक विचारकों का यह मत है कि राज्य या समाज का विधान ही सदाचार का आदर्श है। कोई भी कार्य अपने में न नैतिक है और न अनैतिक। राज्य या समाज अथवा जाति के कुछ विशिष्ट नियमों के कारण ही वह नैतिक या अनैतिक ठहराया जाता है। यदि कोई कार्य राज्य या समाज अथवा जाति के विधान के अनुसार है, तो उसे हम नैतिक और यदि उसके प्रतिकूल है तो उसे अनैतिक कहते हैं।

ये बाह्य-नियम या विधान जिनके आधार पर किसी कार्य की नैतिकता की परीक्षा की जाती है, राज्य, समाज, जाति या धर्म द्वारा

स्थापित किये जाते हैं। इन कार्यों की अवहेलना करने पर राज्य या समाज की सत्ता द्वारा दण्ड की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार बाह्य-विधान द्वारा नैतिकता मनुष्यों पर लादी जाती है।

हमें उपर्युक्त नैतिक आदर्श में कई दोष प्रतीत होते हैं। प्रथम दोष तो यह है कि यह आदर्श मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र नहीं मानता। नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य की अन्तरात्मा से है। वह यदि किसी बाह्य नियम द्वारा उस पर लाद दी जाय, तो फिर उसमें नैतिकता ही कहा रही। नैतिकता में अनिवार्यता जैसी कोई चीज़ नहीं है। बाह्य-नियम का पालन दण्ड के भय से किया जाता है। यदि किसी नैतिक कार्य की प्रेरणा का मूलाधार पुरस्कार की आशा और दण्ड का भय हो, तो नैतिकता या सदाचार स्वार्थ का रूप ग्रहण कर ले और सद्‌गुण चातुर्य्य का पर्यायवाची ही बन जाय।

राज्य या समाज के नियम को ही यदि नैतिकता का आदर्श मान लिया जाय, तो फिर हमारे पास राज्य के विधान की परीक्षा का क्या साधन रह जायगा।

किसी राज्य का विधान नैतिक है या अनैतिक इसकी परीक्षा का क्या साधन रह जायगा यदि हम उस विधान को ही सदाचार का आदर्श मान लेंगे। राज्य या समाज के सभी नियम या क़ानून नैतिक नहीं होते। अनेक नियम ऐसे होते हैं, जिन्हें शासन स्वच्छंदतापूर्वक समाज पर लादता है और जिनसे समाज के बहुमत का कल्याण होने की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

इस आदर्श के विरुद्ध सब से बड़ी आपत्ति तो यह है कि यह साधन को साध्य मानकर चलता है। नियम या विधान स्वयं साध्य नहीं हो सकते, वे तो किसी लक्ष्य या साध्य की प्राप्ति के साधन-मात्र होते हैं। इसलिये राज्य या समाज के विधान सदाचार के आदर्श नहीं माने जासकते।

## समाज के नियम

समाज के नियमों को सदाचार का आदर्श नहीं माना जासकता है। इस विषय में कई आपत्तिया हैं—

( १ ) समाज के नियमों में एक-रूपता नहीं होती। वे देश, काल और स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। युगयुगान्तर में उनमें परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। किसी एक युग में जिस नियम की प्रशंसा की जाती है, दूसरे युग में उसकी निन्दा की जाती है। विविध समाजों के नियमों में भी अन्तर होता है। नैतिक आदर्श तो सर्व काल और देश में समान होना चाहिये—उसमें एक रूपता का होना अत्यन्त जरूरी है।

( २ ) समाज के रीति-रिवाजों और नियमों की सदाचार के दृष्टिकोण से आलोचना की जाती है। कुछ सामाजिक नियमों को अनैतिक भी माना जाता है, जैसे कन्या-वध, सती-प्रथा, अस्पृश्यता। इस प्रकार समाज के रीति-रिवाज नैतिक आदर्श नहीं माने जासकते।

( ३ ) समाज के नियमों में मनुष्य के आन्तरिक भावों या मन्तव्यों का अस्तित्व नहीं होता। परन्तु नीति-शास्त्र इन मन्तव्यों और लक्ष्यों की ही नैतिकता का विवेचन करता है।

## राज्य का विधान

हौब्स, बेन तथा कुछेक अन्य विचारक राज्य के नियमों या विधान को ही सदाचार का आदर्श मानते हैं। राज्य विधान का निर्माण करता है और दण्ड-भय से उसे प्रजा द्वारा मनवाता है। राज्य द्वारा जिस नियम या आज्ञा का प्रचलन किया जाता है, वही उचित है और जिसका निषेध किया जाता है, वही अनुचित या अनैतिक है। इस वाद के विरुद्ध कई आपत्तियां हैं:—

( १ ) राज्य-नियम या शासन-विधान लोक-संग्रह के साधन-मात्र हैं, साध्य नहीं। इसलिये वे नैतिक आदर्श नहीं माने जासकते।

( २ ) राज्य-नियम देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। प्रत्येक देश में समान नियम नहीं होते। और एक ही देश में सर्वकालिक नियम नहीं होते। ये परिवर्तनशील नियम नैतिक आदर्श का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। नैतिक आदर्श तो प्रत्येक देश में और हर स्थिति में समान ही होता है।

( ३ ) राजनीतिक नियम मानव आचरण के एक विशिष्ट भाग से ही सम्बन्ध रखते हैं। वे उसके सम्पूर्ण आचरण से अपना सम्बन्ध नहीं रखते। वे हमारे मानसिक जीवन से भी सम्बन्ध नहीं रखते। वे मनुष्य के उद्देश्यों और मन्तव्यों पर भी ध्यान नहीं देते।

( ४ ) राज्य के नियमों और शासन-विधान के सम्बन्ध में भी नैतिकता की दृष्टि से विचार किया जाता है। कुछ नियमों को अनैतिक भी ठहराया जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि राज्य के विधान को सदाचार का आदर्श नहीं माना जासकता।

## ईश्वर का विधान

हमारे देश में प्राचीन-काल से वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है। उनमें ईश्वर ने मनुष्य के कल्याण के लिये—लौकिक और पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिये—नियमों का विधान किया है। ये वैदिक नियम ही मानवीय सदाचार के आदर्श हैं। हमारे देश में सृष्टि की आदि-रचना से लेकर आज पर्यन्त इसी विचारधारा का प्राधान्य रहा है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और उनमें वर्णित नियम तथा लोक-कल्याण की प्राप्ति के लक्ष्य ही सदाचार के आदर्श हैं। परन्तु वेदों की ऋचाओं की व्याख्याएं भिन्न २ ढंग से की गई हैं। इसलिये उनके मन्तव्य के स्पष्टीकरण में बड़े २ विद्वान तक भ्रम के शिकार बन गये। वेद, उपनिषदों, गीता आदि के अनेक भाष्य विद्वानों ने किये और उनके सिद्धान्तों, आदर्शों तथा मन्तव्यों की

टीका प्रत्येक ने अपने ही ढंग से की है। इससे सामान्य पुरुष बड़ी भ्रान्ति में पड़ जाता है। अतः ईश्वर की आज्ञा क्या है, उसके आदेश वास्तव में क्या हैं, उनका पालन कैसे किया जासकता है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इन मतभेदों के कारण ही संसार में एक ईश्वर की सत्ता मानने पर भी अनेक मत और धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हो गये। इन धार्मिक सम्प्रदायों के नियमों और सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है और कुछेक नियम तो विपरीत ही मिलते हैं।

इस प्रकार यह जानना कि वास्तव में ईश्वर का विधान क्या है, एक बड़ी विकट पहेली है। इसलिये केवल-मात्र ऐसा मान लेने से कि ईश्वरीय विधान या ईश्वर की इच्छा ही मानवीय सदाचार का आदर्श है, हमारे लिये मार्ग-दर्शन का काम नहीं कर सकता। हमें इस विषय पर काफ़ी विचार-विमर्श करके यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि ईश्वरीय विधान क्या है? जब तक हम इसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, तब तक हम इसके प्रकाश में अपना नैतिक आदर्श भी निश्चित नहीं कर सकते।

—— ——

आठवां अध्याय

# सुखवाद
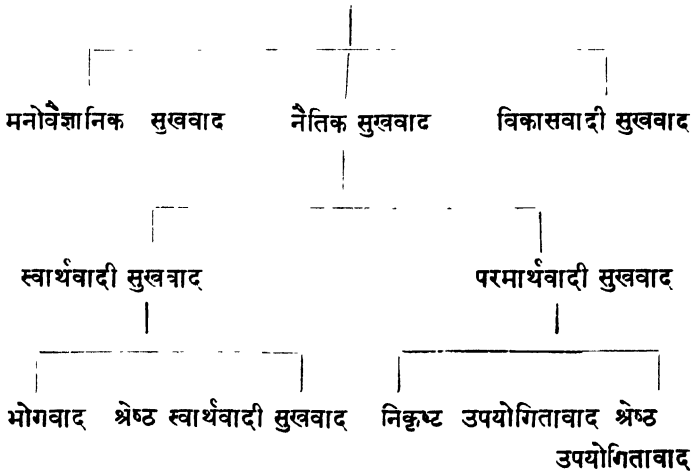
भारतीय और पाश्चात्य विचारकों में एक वर्ग ऐसा है जो सुखवाद को जीवन का परम उद्देश्य मानता है। सुख नैतिकता अथवा सदाचार का परमोद्देश्य है। परन्तु वास्तव में सुख क्या है, इस सम्बन्ध में विचारकों में घोर मतभेद है और इसी कारण सुखवाद का वर्गीकरण मुख्यतया तीन वर्गों में किया गया है— (१) मनोवैज्ञानिक (२) नैतिक और (३)

विकासवादी। इन तीन वर्गों के भी अनेक भेद और उपभेद हैं, जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार इच्छा का स्वाभाविक उद्देश्य सुख ही है। हम सदैव सुख ही चाहते हैं और दुःख के परित्याग के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

नैतिक सुखवाद के अनुसार सुख इच्छा का समुचित उद्देश्य है। हम सदैव सुख में नहीं रहते, परन्तु हमें सुख की खोज करनी चाहिये।

विकासवादी सुखवाद के अनुसार जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य आनन्द है, परन्तु उसका सन्निकट लक्ष्य है जीवन-रक्षा और विकास।

## मनोवैज्ञानिक सुखवाद

इस वाद के अनुसार इच्छा का अन्तिम उद्देश्य है सुख। मानव -व्यापार का उद्देश्य और लक्ष्य स्वभावतः सुख ही है। हम सदैव सुख की इच्छा करते और दुःख का परित्याग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उसे ही चाहता है जो सुखद है और वह उससे सुख की आशा करता है। किसी वस्तु को मनुष्य उसके प्रति प्रेम के कारण नहीं चाहता, परन्तु वह उससे सुख प्राप्त करता है इसलिये उसे चाहता है।

पाश्चात्य विचारक बेंथम और जेम्स मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थक हैं। बेंथम का यह मत है कि "प्रकृति ने मनुष्य को सुख दुख के साम्राज्य के अन्तर्गत रखा है; उसका उद्देश्य है सुख की खोज और दुःख का परित्याग।" इसी प्रकार जेम्स मिल ने यह लिखा है कि "किसी वस्तु की इच्छा करना और उससे सुख अनुभव करना; किसी वस्तु से ग्लानि करना और फलतः उससे दुःख मानना— ये दोनों एक ही चित्र के दो पहलू हैं जिन्हें अलग नहीं किया जासकता। किसी वस्तु को वांछ-नीय समझना और उसे सुखद समझना यह दोनों एक ही चीज है।"

उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इच्छा की तृप्ति से ही सुख की सृष्टि होती है। सामा-

न्यतया हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं और जब उसकी प्राप्ति हो जाती है, तब हम उसमें सुख का अनुभव करते हैं। इस मानसिक क्रिया का क्रम इस प्रकार है; (१) अभाव (२) वस्तु के लिये इच्छा (३) वस्तु की प्राप्ति (४) सुख की भावना। हमें पहले भूख लगती है— यह अभाव है। इसकी पूर्ति के लिये भोजन की इच्छा करते हैं; फिर हमें भोजन मिलता है। जब हम भोजन कर लेते हैं, तब हमें तृप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट है कि तृप्ति से पूर्व अभाव का अस्तित्व होता है और यह जरूरी नहीं है कि इच्छा की तृप्ति सुखद ही हो।

सुख शब्द से क्या तात्पर्य है, यह भी एक बड़े मतभेद का विषय है। सुख तृप्ति की भावना का नाम है अथवा उस वस्तु का जिससे सुख मिलता है। एक वाटिका में हम सुन्दर सौरभयुक्त गुलाब का पुष्प देखते हैं। उसकी मधुर गंध से सुख का अनुभव करते हैं। उसके रूप सौंदर्य से भी हमें सुख का अनुभव होता है। तब क्या सुख का कारण गुलाब का पुष्प है अथवा उसके दर्शन से तृप्ति जो होती है, वह भावना सुख है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद में सब से बड़ा दोष तो यह है कि अपने जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उद्योग करके जिस परम शान्ति या परमानन्द को प्राप्त करना है, उसे यह वाद पहले से ही सिद्ध मान लेता है। इस वाद के अनुसार मनुष्य सुख की इच्छा करता है। परन्तु वास्तव में मनुष्य सुख की इच्छा नहीं करता; उसे सुख की इच्छा करनी चाहिये। इसके लिये उसे सुख क्या है और उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं इनका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

## नैतिक सुखवाद

सुखवाद के सम्बन्ध में दूसरी विचार-धारा यह है कि हम सुख की इच्छा नहीं करते, वरन् हमें सुख की खोज करनी चाहिये। हमारी चेष्टाओं का सुफल ही सुख है। इस विचारधारा के दो प्रमुख भेद हैं;

(१) स्वार्थी सुखवाद और (२) परोपकारी सुखवाद। स्वार्थी सुखवाद के अनुसार व्यक्ति का निजी सुख ही सदाचार का आदर्श है। परोपकारी सुखवाद के अनुसार सब से अधिक जन-समाज का सर्वाधिक सुख ही सदाचार का आदर्श है। स्वार्थी सुखवाद के भी दो भेद हैं— (१) निकृष्ट स्वार्थी सुखवाद और (२) उत्कृष्ट स्वार्थी सुखवाद।

## निकृष्ट स्वार्थी सुखवाद अथवा भोगवाद

भारत में भोगवाद का प्रचार चारवाक प्रचारक 'बृहस्पति' ने किया। बृहस्पति का यह मत है :—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनः कुतः॥

कोई भी मनुष्य आदि प्राणी मृत्यु से बच नहीं सकता। इसलिये जब तक शरीर में जीव रहे तब तक सुख से रहे। जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो; लोक में नीति से चलो। ऐश्वर्य को बढ़ाओ और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो; परलोक कुछ भी नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इसमें उनके योग से चैतन्य होता है। जैसे मादक द्रव्य के सेवन से मद उत्पन्न होता है, वैसे ही इन भूतों के संयोग से चेतन उत्पन्न होता है और उसका नाश भी इन भूतों के वियोग के साथ हो जाता है। इस प्रकार चारवाक् अनीश्वरवादी हैं। वे ईश्वर और जीव की सत्ता में विश्वास नहीं करते। इसलिये उनके मतानुसार इस संसार में जब तक मनुष्य का जीवन है, उसे भोग-विलास करना चाहिये। यही उनके आचार का परम लक्ष्य है।

प्राचीन काल में यूनान में सुकरात के बाद अरिष्टीपस नामक एक विद्वान पैदा हुआ। यह भोगवाद का प्रचारक था। उसके अनुसार सब सुख समान हैं। उनमें केवल मात्रा का ही भेद है। शरीर के सुख अत्यन्त उत्तम हैं। वह अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में लिखता है,

"वर्तमान का भविष्य की बलिवेदी पर बलिदान वास्तव में बहुत ही निर्दय है। वर्तमान तो हमारा है; भविष्य हमारा कब हो सकता है। भूत का तो अन्त ही हो चुका; बस वर्तमान पर ही हमारा अधिकार है। भविष्य तो संदिग्ध है। इसलिये हमें वर्तमान से पूरा लाभ उठाना चाहिये। हमें खाना-पीना और मौज उड़ाना चाहिये; क्योंकि कल हमें मर जाना है।"

## उत्कृष्ट स्वार्थी सुखवाद

यह उत्कृष्ट स्वार्थी सुखवाद भोगवाद की अपेक्षा कुछ उत्तम है, क्योंकि यह वाद चारवाकों की तरह शरीर के निकृष्ट रूप में भोग को ही सुख नहीं मानता। वह सुखवाद में विवेक और ज्ञान का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। उसके मत में 'विवेक आनन्द-पथ पर अग्रसर करने के लिये श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक है।' उसकी दृष्टि में जीवन का सुख क्षणिक भोग या क्षण-भंगुर विलास में नहीं है, प्रत्युत जीवन के आनन्द में है। इस वाद के प्रवर्तक इपीक्यूरस का यह विचार है— "जब हम यह कहते हैं कि सुख जीवन का लक्ष्य है, तब सुख से हमारा मतलब एक दुराचारी के सुख से नहीं, जैसा कि बहुतेरे लोग अज्ञानवश मानते हैं, प्रत्युत शरीर की दुःख से निवृत्ति से है। आत्मा को चिन्ता से मुक्त करना ही सुख है। क्योंकि मादक द्रव्य-सेवन, भोग-विलास, स्त्रियों के प्रति आसक्ति, सुन्दर स्वादिष्ट भोजन एवं खाद्य और दूसरे प्रकार के मनोविनोद ही सुख नहीं कहला सकते हैं।"‡

स्वार्थी सुखवाद चाहे वह उत्कृष्ट हो या निकृष्ट, दोषपूर्ण है। यह वाद मनुष्य को मौलिक रूप से स्वार्थ-परायण मानता है। परन्तु वास्तव में मनुष्य स्वार्थ-परायण नहीं है। यदि वह स्वार्थ परायण होता तो उसमें परोपकार की प्रवृत्तियों का विकास संभव नहीं हो सकता। परन्तु हम संसार में ऐसे महापुरुषों को देखते हैं जिनका जीवन स्वार्थ के लिये नहीं,

‡ Alexander Bain: Mental & Moral Science P. 527

परमार्थ के लिये अर्पित है।

यदि स्वार्थी सुखवाद को सदाचार का आदर्श स्वीकार कर लिया जाय, तो हम एक बड़ी भ्रांति में पड़ जायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की सुख की कल्पना अपनी अलग ही होगी, फिर हम सदाचार का सर्वमान्य आदर्श कैसे स्थापित कर सकेंगे। यदि सदाचार का कोई सर्वमान्य आदर्श न होगा, तो फिर सदाचार टिक भी कैसे सकेगा। भोगवाद तो सदाचार का आदर्श माना ही नहीं जा सकता। यह वाद तो सदाचार का विरोधी है; फिर उसे सदाचार का आदर्श कैसे माना जा सकता है। भोगवाद इन्द्रिय-तृप्ति को अपना चरम लक्ष्य मानता है; पर सदाचार तो इन्द्रियों और मन के निग्रह पर जोर देता है। उत्कृष्ट स्वार्थी सुखवाद भोगवाद की अपेक्षा श्रेष्ठतम है, परन्तु वह भी सदाचार का आदर्श नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह कर्ता के स्वार्थ पर ही केंद्रित है।

## परोपकारी सुखवाद

इस वाद के अनुसार जन-समाज के सब से बड़े भाग का सब से अधिक सुख सदाचार का आदर्श है। पाश्चात्य जगत में बेंथम और मिल ये दो महान व्याख्याता हुए हैं जिन्होंने इस वाद का विवेचन किया है। मिल का सिद्धान्त उपयोगितावाद के नाम से प्रसिद्ध है। वह प्रत्येक वस्तु की परीक्षा उपयोग की दृष्टि से करता है। परन्तु बेंथम सुखों में गुण के आधार पर कोई भेद नहीं मानता। वह केवल मात्रा के आधार पर ही भेद मानता है। सुख की निम्नांकित सात विशिष्टताएं हैं :—

(१) तीव्रता (२) अवधि (३) साहचर्य्य (४) निश्चयता (५) दुःख से रहित (६) साफल्य (७) व्याप्ति।

जो सुख अधिक स्थायी होता है वही श्रेष्ठतम होता है। जो स्थायी होने के साथ तीव्र होता है वह और भी श्रेष्ठ होता है। जो सुख अधिक से अधिक लोगों का हित-साधन करता है वह श्रेष्ठ-

तम है। बेंथम मनुष्य की स्वार्थमयी प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए लिखता है :— "ऐसा स्वप्न में भी न सोचो कि मनुष्य आपके हित में अपनी एक छोटी सी उंगली भी उठावेंगे, जब तक कि ऐसा करने में उनका कोई निजी स्वार्थ न हो। जब तक मानव प्रकृति वर्तमान सामग्री से बनी होगी तब तक मनुष्य कभी ऐसा न करेगा। परन्तु वे आपकी सेवा करना चाहेंगे, यदि ऐसा करने में उनके अपने स्वार्थ की पूर्ति होगी।" इस प्रकार बेंथम मानव को स्वभावतः स्वार्थी मानता है, परन्तु फिर भी वह उसे परोपकारी भी मानता है।

जब बेंथम मानव को स्वाभाविक प्रकृति से ही स्वार्थी मानता है, तब वह दूसरों के हित के लिये क्यों चेष्टा करता है? वह सामान्य जन-समाज का हित-साधन करने के लिये क्यों प्रयत्न करता है? सदाचार की यह कौन-सी शक्ति है, जो उसे ऐसा करने के लिये प्रेरित करती है? हमें दूसरों के सुख के लिये अपने सुख का बलिदान क्यों करना चाहिये? बेंथम इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से करता है:—चार बाह्य कारणों से मनुष्य अपनी स्वार्थमयी प्रकृति का दमन कर दूसरों का हित-साधन करता है। वे हैं—सामाजिक, राजनीतिक, शारीरिक और धार्मिक दण्डाज्ञाएं।

जब हम स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करते हैं, तो शारीरिक दुःख पाते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि हमें शरीर के पोषण के लिये भोजन पर्याप्त मात्रा में करना चाहिये और यदि कम या अधिक करते हैं, तो दुःख भोगना पड़ता है।

राज्य-दण्ड के भय से हम बहुत से ऐसे नियमों का पालन करते हैं, जिनसे जन-समाज का हित-साधन होता है।

समाज-दण्ड के भय से हम अनेक सामाजिक नियमों एवं रीतियों का पालन करते हैं। इनसे भी समाज का कल्याण होता है।

धर्म के भय से भी हम अनेक कार्यों को करते हैं जिनसे समाज का

लाभ होता है। स्वर्ग के सुख की आशा तथा नरक की यातनाओं के भय के कारण भी हम ऐसे कार्य करते हैं जिनसे समाज का लाभ होता है; जैसे दान-दक्षिणा, जप-तप, तीर्थ-यात्रा आदि।

बेंथम के मतानुसार इन चार प्रकार के भय के कारण मानव की स्वार्थमयी प्रकृति परोपकार की ओर प्रवृत्त होती है।

बेंथम का परोपकारी सुखवाद भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भांति ही दोषपूर्ण है। क्योंकि यह परोपकारी सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर ही खड़ा किया गया है। बेंथम ने मानव की स्वार्थमयी प्रकृति में परोपकारिता की प्रतिष्ठा करने का जो प्रयत्न किया है और उसके लिये जो चार प्रकार के भय सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक बतलाये हैं, वे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते।

सदाचार मानवात्मा का गुण है। वह बाहर से लादी जाने वाली व्यवस्था नहीं। इसलिये जिन कार्यों को मनुष्य लोक-भय से करते हैं, उनमें हम सदाचार का सार नहीं पाते। जहां बाहरी किसी सत्ता का भय हो, वहां सदाचार टिक नहीं सकता। सदाचार तो मानव की आन्तरिक प्रकृति का गुण है।

बेंथम सब प्रकार के सुखों को समान मानता है। उनमें गुण के आधार पर भेद नहीं मानता; केवल मात्रा के आधार पर भेद मानता है। शारीरिक सुख, मानसिक सुख, कलात्मक सुख, और आध्यात्मिक आनन्द सब समान तो नहीं हो सकते। उनमें न केवल मात्रा का ही अन्तर है, प्रत्युत मौलिक गुणात्मक अन्तर भी है, जिसे बेंथम स्वीकार नहीं करता।

## उपयोगितावाद

जॉन स्टुअर्ट मिल यूरोप में एक बड़ा विचारक हुआ है। वह प्रकृति-वादी था और ईश्वर की सत्ता में उसका विश्वास न था। दार्शनिक जगत में 'उपयोगितावाद' नामक सिद्धान्त की उसने स्थापना की। उसकी

गणना परोपकारी सुखवादियों में की जाती है। उसके मतानुसार "कार्य उसी अनुपात में उत्तम होते हैं, जिस अनुपात में वे सुख की सृष्टि करते हैं; वे उसी अनुपात में निकृष्ट होते हैं जिसमें सुख का विरोध करते हैं। सुख से मतलब है दुःख का अभाव।" यह विशुद्ध सुखवाद है। वह यद्यपि परोपकारी नैतिक सुखवाद का पोषक है, परन्तु उसका सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर स्थिर है। उसका यह कथन है कि "हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं; इसलिये सुख वांछनीय है। कोई पदार्थ दृश्य है इसका केवल-मात्र प्रमाण यही है कि मनुष्य उसे स्पष्ट देखते हैं। शब्द सुनाई देता है, इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि लोग सुनते हैं। यदि कोई वस्तु वांछनीय है, तो उसका प्रमाण यह है कि लोग उसे चाहते हैं।"

मिल ने अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' में लिखा है—"यह सुवर्ण नियम— दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम दूसरों से अपने लिये आशा करते हो— उपयोगितावादी सदाचार का पूर्ण आदर्श है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिये दो साधन हैं; प्रथम, कानून और समाज को व्यक्ति के हितों का समाज के हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये; दूसरे, शिक्षा और लोकमत द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर यह संस्कार डाल दिया जाय कि उसके निजी हित और समूचे समाज के हित में अभेद्य सम्बन्ध है।"

मनुष्य आनन्द चाहता है, इसका क्या प्रमाण है? इसका उत्तर मिल इस प्रकार देता है, "जैसे कि इसका प्रमाण कि सूर्य दिखाई देता है, यह है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं, वैसे ही इसका प्रमाण, कि आनन्द वांछनीय है, यह है कि लोग वास्तव में उसकी इच्छा करते हैं। इसका कोई कारण नहीं दिया जासकता कि सामान्य आनन्द क्यों वांछनीय है, इस तथ्य के सिवाय कि प्रत्येक अपना सुख चाहता है।"

नैतिक दण्डाज्ञा के विषय में मिल का यह कथन है, "दण्डाज्ञाएं

दो प्रकार की हैं; आन्तरिक और बाह्य। बाह्य दण्डाज्ञाएं हैं राज्य या समाज से प्रशंसा या पुरस्कार की आशा अथवा उसके रोष का भय। आन्तरिक दण्डाज्ञा है—मानवता के कल्याण की भावना—दूसरों के सुख-दुःख के प्रति सहानुभूति की भावना।" ‡

इस सिद्धान्त की पुष्टि में मिल ने लिखा है— "उपयोगितावादी सदाचार के समर्थन के योग्य प्राकृतिक भावना का आधार हमें मानवता की सामाजिक भावना में मिलता है। सामाजिक स्थिति इतनी स्वाभाविक, जरूरी, और मानव की प्रवृत्ति के इतनी अनुकूल है कि वह अपने को समाज का एक सदस्य मानने के लिये बाध्य है। और सभ्यता की वृद्धि और विकास के साथ इस समाज में भी संगठन-तत्व बढ़ता जायगा। सामाजिक बंधनों के सुदृढ़ होने तथा सामाजिक विकास की स्वास्थ्यप्रद प्रगति के साथ प्रत्येक व्यक्ति इसमें अपना हित अनुभव करेगा कि वह दूसरों के कल्याण की परवाह करे।"

## उपयोगितावाद की आलोचना

सुखवाद की हम पिछले पृष्ठों में आलोचना कर चुके हैं। यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। मिल का उपयोगितावाद भी सुखवाद का ही एक अंग है। सम्पूर्ण सुखवादी मतों की एक प्रमुख विशिष्टता यह है कि वे शारीरिक आवश्यकता की तृप्ति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे मानवात्मा की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। यह सुखवाद का सब से बड़ा दोष है। शरीर की तृप्ति और आत्मिक शान्ति या आध्यात्मिक आनन्द ये दोनों दो भिन्न और परस्पर-विरोधी वस्तुएं हैं। जिन कार्यों से शरीर को सुख मिलता है, यह आवश्यक नहीं कि उनसे आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति में सहायता मिले।

शरीर के अनेक सुख तो आत्मिक शान्ति के लिये अनावश्यक से हैं। एक स्थान पर मिल ने लिखा है, "यदि लोग किसी वस्तु को

‡ Alexander Bain: Mental & Moral Science p. 706

चाहते हैं, उसकी आकांक्षा करते हैं, तो वह वांछनीय है।" यह कथन यदि सत्य मान लिया जाय तो इससे नैतिकता के लिये बड़ी ठेस पहुंचेगी। लोग शराब पीकर उन्मत्त होना चाहते हैं, लोग स्वपत्नी का परित्याग कर वेश्या के साथ विलास-लीला करना चाहते हैं, लोग सत्य और धर्म के पथ को त्याग अधर्म और अन्याय को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, तब क्या मदिरा-पान, वेश्यागमन, अधर्म आदि वाछनीय होंगे?

मिल अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह लिखता है, "प्रत्येक व्यक्ति का सुख उस व्यक्ति के लिये हितप्रद है; इसलिये सामान्य सुख सामान्य व्यक्तियों के समूह के लिये श्रेष्ठ है।" यहां मिल एक भयंकर गलती करता है। सब मनुष्यों के लिये जो श्रेष्ठ है, वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ नहीं हो सकता। यह तो ऐसी बात होगीः कल्पना कीजिये मेरा सुख मेरे लिये हितप्रद है— श्रेष्ठ है, आपका सुख आपके लिये हितप्रद है और वेदप्रकाश का सुख उसके लिये हितप्रद है; इसलिये हम तीनों के सुख मिलकर हम तीनों के लिये हितप्रद हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। हम सुखों को इस प्रकार संगठित नहीं कर सकते।

सुखवाद का आधार-स्तम्भ स्वार्थ है। यदि हम दूसरों के सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं और अपने सुख की उपेक्षा, तो निश्चय हम सुखवादी नहीं माने जासकते। यह परोपकारी तथा परमार्थवाद की भावना सुखवाद के सुन्दर भवन को विनष्ट करने में 'डाइनामाइट' का काम करती है। सुखवाद इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता कि मनुष्य अपने सुखों का दूसरों के सुख के लिये क्यों त्याग करता है।

## विकासवादी सुखवाद

सुखवाद की एक तीसरी विचार-धारा है जो विकासवादी सुखवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस विचारधारा के अनुसार सदाचार का

विकास भी विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है। इस विचार-धारा का जन्मदाता पाश्चात्य जगत का विचारक हरबर्ट स्पेंसर है।

"जब हम यह कहते हैं कि विकासवाद का नियम नैतिक जीवन के सम्बन्ध में भी लागू किया जासकता है, तो इसका मतलब यह है कि नैतिक जीवन भी एक विकास है। प्रत्येक विकास में आरम्भ, प्रक्रिया और अन्त होता है। परन्तु सामान्यतया हमें न आरम्भ देख पड़ता है, और न अन्त, वरन् हम प्रक्रिया को ही देख पाते हैं। आदि-काल में सब से निम्नतम प्राणियों का रूप तथा आकृति क्या थी, इसे हम नहीं देख सकते और न हम यह जानते हैं कि भविष्य में वर्तमान प्राणियों का क्या रूप-रंग और स्वरूप होगा।"

"यही बात नैतिक जीवन के सम्बन्ध में भी है। प्रारंभिक नैतिक जीवन सर्वथा अंधकार में है और न हम भावी नैतिक जीवन के विकसित रूप की कल्पना ही कर सकते हैं। हम तो उसे विकास-क्रम में ही देख सकते हैं।"

विकासवादी यह कहते हैं कि हम नैतिक जीवन को उसकी आरम्भिक स्थिति या उसके लक्ष्य के प्रकाश में ही समझ सकते हैं। इसलिये विकासवादी भी दो मतों की स्थापना करते हैं। एक ऐतिहासिक अवलोकन द्वारा नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा करता है; दूसरा विकासवाद के अनुसार आदर्श की प्रतिष्ठा कर उसके प्रकाश में सदाचार की समीक्षा करता है।

हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार सदाचार का आदिस्रोत पशुओं के आचरण में है। उसके अनुसार आचरण मनुष्य की उन क्रियाशीलताओं के समूह का नाम है जो उसका वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करती है। जीवन का सार इसी में है कि बाह्य सम्बन्धों का आन्तरिक सम्बन्धों से बराबर सामंजस्य स्थापित किया जाय। जो आचरण इस सामंजस्य की प्रतिष्ठा करता है, वह श्रेष्ठ है और जो उसमें बाधा

उपस्थित करता है, वह निकृष्ट है। श्रेष्ठ आचरण सुख की उत्पत्ति करता है। क्योंकि यह मानव का बाहरी वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। निकृष्ट आचरण दुःख पैदा करता है। प्रायः आचरण में दुःख-सुख मिश्रित होता है। पूर्ण आचरण में ही दुःख का अभाव होता है।

## प्राणि-विज्ञान और दुःख-सुख

स्पेंसर ने दुःख-सुख को प्राणि-विज्ञान के आधार पर माना है। उसके अनुसार सुख जीवन-वृद्धि का निर्देशक और दुःख जीवन-ह्रास का निर्देशक है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है; परन्तु सन्निकट लक्ष्य है जीवन तथा आयु की वृद्धि। जीवन की वृद्धि और आयु की वृद्धि से मतलब है आत्म-रक्षा और स्वजाति-रक्षा।

स्पेंसर का यह मत है कि मानव-जीवन की रक्षा तथा विकास के लिये यह आवश्यक है कि मानव प्रकृति पर कुछ बन्धन लगाये जायं। इन बन्धनों की संख्या चार मानी गई है जो निम्न प्रकार हैं—(१) राजनीतिक, (२) सामाजिक (३) धार्मिक और (४) नैतिक।

स्पेंसर एक ऐसे युग की कल्पना करता है जब कि व्यक्ति और समाज के हितों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जायगा। उस समय सहानुभूति में कोई दुःखदायी अंश न रह जायगा। नैतिक दायित्व का रूप बिल्कुल बदल जायगा और सदाचार मानव का स्वाभाविक धर्म हो जायगा। उस समय आदर्श समाज की प्रतिष्ठा हो जायगी।

स्पेंसर की यह विचारधारा भी अन्य सुखवादियों की विचारधारा के समान ही भ्रान्तिमूलक है। वह वास्तव में से आदर्श का प्रादुर्भाव करने की विफल चेष्टा करता है। विकास किसी नवीन वस्तु का निर्माण तो नहीं करता। वह तो केवल प्रकृति में छिपी शक्ति को प्रकाश में ला देता है। जिस प्रकार अभाव से भाव, जड़ से चेतन का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार अनैतिक तत्वों से नैतिकता या सदाचार की

उत्पत्ति नहीं हो सकती।

विकासवाद का यह सिद्धान्त है कि 'योग्यतम ही जीवित रहते हैं'। इसके अनुसार तो संसार में केवल शक्ति का सिद्धान्त ही शासन कर सकता है। फिर प्रेम और न्याय इन शब्दों के लिये तो कोष में कोई स्थान ही न रहेगा।

स्पेंसर ने सुख-दुःख की जो व्याख्या की है, वह भी ठीक नहीं है। सुख जीवन-वृद्धि का नाम नहीं है। वह तो शक्ति का व्यय ही है। जीवन का अर्थ शक्ति या स्वास्थ्यपूर्ण क्रियाशीलता हो सकता है। पर इनका सुख के साथ मेल नहीं बैठता। सुख क्रियाशीलता की प्रेरक शक्ति नहीं है; प्रत्युत वह तो उसका फल है। जो कार्य मनुष्य को सुख देने वाले हैं, वे आवश्यक रूप से स्वास्थ्य के पोषक नहीं होते। और बहुत से लाभप्रद तथा स्वास्थ्य के लिये प्राणदायक कार्य हमें सुख-प्रद प्रतीत नहीं होते। रात्रि के समय जब कि विश्राम का समय होता है, नाट्य-शाला में अभिनय देखना या सिनेमा-हॉल में फिल्म देखना सुखप्रद हो सकता है, परन्तु इनसे स्वास्थ्य को कोई पोषण नहीं मिलता। इसी प्रकार श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया या आमाशय में अन्न-पाचन की क्रिया यद्यपि स्वास्थ्य और जीवन के लिये उपयोगी है, तथापि इनसे सुख नहीं मिलता। अतः सुखों को जीवन-वृद्धि का निर्देशक नहीं माना जासकता। इसके सिवाय जीवन का सन्निकट लक्ष्य जीवन या आयु की वृद्धि नहीं माना जासकता। इसे सदाचार का आदर्श नहीं कह सकते।

स्पेंसर ने जिन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है, वे सदाचार की भावना को नहीं जगा सकते। वे 'भय' और 'आतंक' तो पैदा कर सकते हैं, पर मानवात्मा में उस श्रद्धा को नहीं जगा सकते जिससे सदाचार की उत्पत्ति हो सके।

स्पेंसर ने जिस आदर्श की स्थापना का स्वप्न देखा है, वह इस पृथ्वी पर कदापि स्थापित नहीं हो सकता। विकासवाद के अनुसार तो

विश्व में सदैव परिवर्तन और विवर्तन का चक्र चलता रहेगा; फिर ऐसी अवस्था पैदा कैसे होगी। यह अवस्था तो स्वयं विकासवाद के सिद्धान्त का विरोध करती है।

## समाज एक शरीर के रूप में

स्टीफन नामक एक विकासवादी विचारक के अनुसार समाज एक शरीर है और व्यक्ति उसके अवयव हैं जो परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर जीवित नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह कि शरीर के अंग उससे अलग नहीं रह सकते।

स्टीफन के अनुसार जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य सब से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख-सम्पादन नहीं है, जैसा कि मिल और बेंथम समझते हैं, और न जीवन की वृद्धि ही है जैसा कि स्पेंसर मानता है, वरन् सामाजिक शरीर का स्वास्थ्य है। वैज्ञानिक कसौटी आनन्द नहीं, स्वास्थ्य है। वही कार्य उत्तम है जिससे समाज का स्वास्थ्य ठीक रहता है और जो समाज के स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है, वह कार्य बुरा है। सदाचार सामाजिक स्वास्थ्य की नियमावली का नाम है। उससे समाज का स्वास्थ्य ठीक रहता है। व्यक्ति में जनता की आवाज की प्रतिध्वनि का नाम सामान्य बुद्धि है। सहानुभूति सामाजिक नैसर्गिक प्रवृत्ति का नाम है। मनुष्य समाज का सदस्य बनकर ही, व्यक्तिगत रूप में नहीं, सहानुभूतिपूर्ण हो सकता है।

स्टीफन ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की शरीर और उसके अवयवों से जो तुलना की है, वह उचित नहीं है। समाज में व्यक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। पर शरीर में अवयवों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समाज की स्वयं कोई व्यक्तियों से पृथक् सत्ता नहीं है।

सुख-दुःख का अनुभव व्यक्ति ही करते हैं, समाज नहीं। व्यक्तियों में ही चेतनता होती है। जिस प्रकार समाज की तुलना शरीर से एक अलंकार के रूप में की गई है, वैसे ही समाज के स्वास्थ्य की तुलना

शरीर के स्वास्थ्य से अलंकारिक रूप में की गई है।

जब स्टीफन समाज के स्वास्थ्य को सदाचार का आदर्श मान लेता है, तो वह सुखवादी नहीं रहता। क्योंकि सुखवाद तो व्यक्ति के स्वार्थ पर निर्भर है। सुखवादी व्यक्ति के स्वार्थ की तृप्ति को ही प्रधानता देता है। पर यहां तो स्टीफन ने समाज को प्रधानता दी है।

---

## नवाँ अध्याय

# बुद्धिवाद

सुखवाद का आधार भावना है; वह दुःख-सुख की भावना पर स्थिर है। परन्तु बुद्धिवाद भावना की उपेक्षा कर तर्क—विशुद्ध तर्क पर जोर देता है। यदि सुखवाद मनुष्य को भौतिक बनाता है तो बुद्धिवाद उसे आध्यात्मिक बनाता है। सुखवाद का आदर्श मानव की शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति भर ही है; परन्तु बुद्धिवाद विशुद्ध तर्क के जीवन की ओर उसे ले जाता है। मानव और पशु में बुद्धि का ही तो अन्तर है। बुद्धि या विवेक मानव प्रकृति की एक प्रमुख विशेषता है।

## बुद्धिवाद क्या है ?

* सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने बुद्धिवाद को सदाचार का आदर्श माना है। उसके अनुसार अन्तःकरण का आदेश ही सदाचार का

---

* The faculty is the pure practical Reason. The apprehension of what is morally right is entirely an affair of Reason ; the only element of feeling is an added sentiment of Awe or Respect for the law that Reason imposes, this being a law, not only for me who impose it on myself, but at the same time for every rational agent.

—Alexander Bain's Mental and Moral Science P. 738 (1881)

अन्तिम लक्ष्य है। अन्तःकरण द्वारा जो नैतिक नियम निर्धारित किया जाता है, वह स्वतः आदेश है। विशुद्ध बुद्धि के आदेश की हम अवहेलना नहीं कर सकते। उसका पालन तो सर्वथा अनिवार्य ही है। बुद्धि या अन्तःकरण का नैतिक विधान साधन नहीं, साध्य है।

काण्ट के अनुसार बुद्धि के आदेश से बढ़कर और कोई श्रेष्ठतम नियम नहीं है, जो उसे रद्द कर सके।

## इच्छा की स्वाधीनता

काण्ट के अनुसार श्रेष्ठ इच्छा ही केवल मात्र श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ इच्छा ही संसार में निरपेक्ष श्रेष्ठ है और अन्य वस्तुए तो सापेक्ष रूप से ही श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठ इच्छा ऐसा रत्न है जो अपनी ही प्रभा से आलोकित है। काण्ट श्रेष्ठ इच्छा को ही संसार में एकमात्र निरपेक्ष भलाई मानता है। उसके अनुसार श्रेष्ठ इच्छा ही विवेकपूर्ण इच्छा है और वह सर्व व्यापक बुद्धि के विधान के अनुसार कार्य करती है। इच्छा को अपने नैतिक विधान द्वारा ही अपना मार्ग ढूंढना चाहिये; उसका पथ-प्रदर्शन भावना द्वारा नहीं होना चाहिये। यदि भावना द्वारा उसका पथ-प्रदर्शन होता है, तो वह स्वाधीन कहां रही। इस प्रकार काण्ट मानव प्रकृति में तनिक भी भावना के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। जब इच्छा कर्तव्य-भावना से काम करती है, तभी वह स्वतन्त्र होती है; परन्तु जब वह किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करती है, तब वह स्वतन्त्र नहीं होती।

## जीवन में प्रेम और दया के लिये स्थान

काण्ट के अनुसार नैतिक जीवन विशुद्ध बुद्धि या तर्क का जीवन है। उसमें भावनाओं और मनोभावों के लिये कोई स्थान नहीं है। उनका सर्वथा दमन करना चाहिये। यहां तक कि प्रेम और दया भी अनैतिक हैं। वे मनोभाव होने के कारण आत्मा की सच्ची प्रकृति के विरुद्ध हैं। विशुद्ध तर्क का जीवन ही नैतिक जीवन का आदर्श है। वह नैतिक

जीवन में नैतिक नियम के लिये आदर की भावना को ही स्थान देता है। यदि कोई व्यक्ति प्रेम या दया के वशीभूत होकर किसी रोगी की सेवा-सुश्रूषा करे तो काण्ट इस कार्य को अस्वाभाविक मान इसकी निन्दा करेगा। उसके मतानुसार उचित कार्य वही है जो निम्न लिखित दो शर्तों को पूरा करता है— (१) वह बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित नैतिक विधान के अनुकूल हो; (२) उसका कर्त्ता उसे नैतिक विधान के प्रति कर्तव्य-भावना से करे।

## सदाचार के नियम

काण्ट के अनुसार नैतिक विधान इससे अधिक हमें संकेत नहीं देता कि हमें नियम के अनुसार कार्य करना है। इसका मतलब यह है कि हमारे कार्यों में संगति होनी चाहिये।

उसने अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के हेतु सदाचार के कुछ नियम निर्धारित किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) आपको इस ढंग से कार्य करना चाहिये जैसा कि आप उन्हीं परिस्थितियों में दूसरों से कराने की इच्छा करेंगे।

एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। प्रतिज्ञा-भंग करना अनुचित है, क्योंकि इसे सार्वजनिक नियम नहीं बनाया जासकता। यदि सभी लोग प्रतिज्ञा-भंग करने लगें, तो वास्तव में प्रतिज्ञा का अस्तित्व ही मिट जायगा। अतः प्रत्येक के लिये प्रतिज्ञा-भंग असम्भव है।

(२) इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि न तो अपने को और न किसी और दूसरे मनुष्य को साधन माना जाय।

मनुष्य वास्तव में विवेकशील है। उसकी इस विवेकशीलता का आदर करना चाहिये। कोई व्यक्ति अपने को किसी दूसरे का न साधन समझे और न दूसरे को अपना साधन। मनुष्य स्वयं साध्य है। उसे साधन के रूप में कदापि न समझे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का आदर करने के साथ दूसरे के व्यक्तित्व का भी आदर करना चाहिये।

( ३ ) अपने को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करो, और साथ ही साथ दूसरों के आनन्द को बढ़ाने का भी प्रयत्न करो; क्योंकि तुम दूसरे को पूर्ण नहीं बना सकते।

एक मनुष्य अपने को पूर्ण बना सकता है। क्योंकि वह अपनी इच्छा पर नियत्रंण कर उसे नैतिक विधान के अनुकूल बना सकता है। पर वह दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकता। क्योंकि वह उनकी इच्छा पर नियंत्रण नहीं कर सकता। नैतिकता का प्रत्येक मनुष्य को अपने में विकास करना चाहिये; वह बाहर से नहीं लादी जा सकती। पूर्णता प्राप्त करने की वस्तु है, प्रदान करने की नहीं। मनुष्य दूसरों के लिये इतना भर ही कर सकता है कि ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दे जिससे उनकी सुख-वृद्धि हो सके।

## बुद्धिवाद की आलोचना

काण्ट ने बुद्धि और इच्छा या भावना में विरोध स्थापित किया है। इस प्रकार उसने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अवहेलना की है कि इच्छा और बुद्धि को एक दूसरे से अलग नहीं किया जासकता। वे दोनों मन के गुण हैं।

काण्ट ने नैतिक जीवन से भावना का निष्कासन कर एक बड़ी मनोवैज्ञानिक भूल की है। वस्तुतः तर्क द्वारा भावनाओं के नियमन का नाम ही सदाचार है। भावना और मनोभाव तो नैतिक जीवन की सामग्री हैं। बुद्धि या तर्क का काम है इच्छा और भावना का नियमन। यदि हम अपनी समस्त भावनाओं और इच्छाओं का विनाश कर दें, जो सम्भव नहीं, तो तर्क या बुद्धि भी नष्ट हो जायगी।

यदि हम भावनाओं और इच्छाओं की सत्ता को न मानें, तो नैतिकता एक संज्ञा-मात्र रह जायगी; उसमें फिर सार ही क्या रहेगा। भावनाएं हमारे कार्यों के सार-तत्व हैं; तर्क या बुद्धि उन्हें स्वरूप प्रदान करती है।

प्रेम और दया के भावों से प्रेरित होकर कभी-कभी मनुष्य ऐसे महान और आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाते हैं कि बुद्धिवादी अपने दांतों तले उंगली दबा लेते हैं। राजा रामचन्द्र ने अपनी पितृ-भक्ति के कारण ही तो चौदह वर्ष वन-जीवन बिताया और राज-पाट का सारा सुख एक तृणवत् मानकर ठुकरा दिया। श्रवणकुमार के वृद्ध माता-पिता ने अपने पुत्र-वियोग में अपने प्राण-त्याग दिये। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने गुरु स्वामी विरजानन्द की गुरु-दक्षिणा को देने के लिये ही भक्ति-वश वेद-प्रचार का व्रत ग्रहण किया और संसार को वेदों का एक अभिनव सन्देश दिया। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के प्रति भक्ति के आवेश में ही हिन्दी के महाकाव्य रामचरितमानस की रचना की, जिसके कारण हिन्दी-साहित्य आज भी गौरवान्वित है। आधुनिक समय में ब्रिटेन के राजा एडवर्ड अष्टम ने अपनी अमेरिकन पत्नी प्रेमिका ( कुमारी सिम्पसन ) के प्रेम के वशीभूत हो, राजसिंहासन का त्याग कर दिया।

दार्शनिक काण्ट का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है कि नैतिक जीवन का केवल तर्क या बुद्धि से ही सम्बन्ध है--भावना या मनोभावों से नहीं। जब मानव अपने हृदय की भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है, तब वह कार्य उसके हार्दिक रस से ओतप्रोत होता है; वह केवल एक यंत्र का उत्पादन ही नहीं होता।

काण्ट बुद्धि के आदेश को अनिवार्य आदेश मानता है और उसके पालन में एक भी अपवाद स्वीकार नहीं करता। वास्तव में जगत में ऐसे अनेक कार्य हैं जो अपवाद होने के कारण ही उचित माने जाते हैं। कुछ एक व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं; वे विवाह नहीं करते। यह वास्तव में विवाह-विधान का अपवाद ही है। यह नैतिक दृष्टि से उचित और प्रशंसनीय है। परन्तु काण्ट ऐसे अपवादों को स्वीकार नहीं करता।

काण्ट के अनुसार जिस कार्य में इच्छाओं के प्रलोभन का जितना ही अधिक प्रतिरोध होता है, वह कार्य उतना ही अधिक श्रेष्ठतम होता है। इच्छा और कर्तव्य में जितना अधिक तीव्र संघर्ष होगा और अन्त में इच्छा पर कर्तव्य की विजय होगी, उतना ही उस कार्य का महत्व होगा जो कर्तव्य से प्रेरित होकर किया जायगा। इस प्रकार वह नैतिक जीवन में अविराम संघर्ष की आवश्यकता स्वीकार करता है। निम्नतर नैतिक जीवन में कर्तव्य और इच्छा में घोर संघर्ष होता है। जिन व्यक्तियों के नैतिक जीवन का धरातल निम्नतर है, वे पद-पद पर यह सोचते हैं कि यह कार्य किया जाय या नहीं। इस पर काफ़ी विचारते हैं। और इस संघर्ष में अन्त में इच्छा या कर्तव्य में से एक की विजय होती है परन्तु ज्यों ज्यों नैतिक जीवन का धरातल उच्चतर बनता जाता है, यह संघर्ष भी कम होता जाता है। मनुष्य प्रत्येक कार्य में या पद-पद पर इसका अनुभव नहीं करता। वह अपने कार्यों को स्वाभाविक ढंग से करता रहता है।

काण्ट के सिद्धान्त में एक दूसरा दोष यह भी है कि वह एक व्यक्ति-वादी सिद्धान्त ही है। वह जब भावना का नैतिक जीवन में कोई स्थान नहीं मानता, तब भावना से प्रेरित सम्बन्ध भी मानव-जगत में कैसे स्थापित हो सकते हैं। हमारे पारिवारिक जीवन में, नागरिक जीवन में और हमारे दैनिक परिवारिक व्यवहारों में प्रेम के आधार पर स्थित भावना ही की अभिव्यक्ति होती है। मानव-सम्बन्ध प्रेम-भावना पर ही स्थित है, तर्क या बुद्धि पर नहीं।

## अन्तःकरणवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य की नीति या अनीति के विषय में उसका अन्तःकरण ही सब से बड़ा और एकमात्र मार्ग-दर्शक है।

हम किसी कार्य की नैतिकता या अनैतिकता के विषय में अपने अंतः-

करण द्वारा शीघ्र ही यह जान लेते हैं कि वह कैसा है। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी व परोपकार आदि अच्छी बात के करने को जिस क्षण में प्रवृत्त कराता है उस समय जीव की इच्छा, ज्ञान आदि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे काम करने में अभय, निशंकता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।" ‡

जब हम किसी कार्य को करने लगते हैं, तब उसके औचित्य या अनौचित्य के विषय में हमारे अन्तःकरण में ऊहापोह होता है। और जब हम निर्णय कर श्रेष्ठ कार्य की ओर प्रेरित होते हैं, तब यह प्रेरणा हमें आत्मा की ओर से नहीं- परमात्मा की ओर से मिलती है। यह स्वामी दयानन्द का विचार है।

पाश्चात्य जगत के सुप्रसिद्ध आस्तिकवादी विद्वान फ़िलण्ट का यह कथन है कि—

"शायद ईश्वर का कोई व्यावहारिक विश्वास ऐसा नहीं जिसका अन्तःकरण से आरम्भ न होता हो। न कार्य-कारणवाद और न ब्रह्माण्ड द्वारा प्रत्यक्ष बुद्धिमत्ता की प्रशंसा ही मानव-हृदय में ईश्वर के विचार को प्रति क्षण बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। प्राकृतिक जगत या मनुष्य समाज की किसी घटना के विचार से मनुष्य के हृदय में ईश्वर के प्रत्यक्ष तथा उसके अपने साथ सम्बन्धों का इतना ध्यान नहीं रह सकता। केवल उत्तेजित तथा विकसित अन्तःकरण द्वारा ही हम इस बात का प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि हम ईश्वर के समीप हैं। वह हमसे

---

‡ स्वामी दयानन्द : सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास।

सम्बन्ध रखता है और हम उससे सम्बन्ध रखते हैं। यदि हममें सदाचार-सम्बन्धी ज्ञान न होता तो हम कभी न जान सकते कि ईश्वर का स्वभाव और साम्राज्य बुरा है या भला। यह सम्भव था कि हम उसकी शक्ति के सामने कांप जाते या उसकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगते।

"परन्तु उसकी भलाई हमसे छिपी रहती; उसके नैतिक नियम हमारे लिये व्यर्थ ही होते और उनका भय हमारे लिये प्राकृतिक हानि-लाभ से अधिक कुछ भी न होता। परन्तु सदाचार से शून्य ईश्वर ईश्वर ही नहीं और न सदाचार से शून्य उपासना उपासना ही है। केवल अन्तःकरण के दर्पण में ही ईश्वर की कल्याणकारिता के दर्शन हो सकते हैं और केवल इसी कारण ही प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, जो सच्ची उपासना के लिये आवश्यक हैं, का प्रादुर्भाव सम्भव है। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि से अन्तःकरण का गहरा सम्बन्ध है।" ‡

महात्मा गांधी भी जब कोई महत्वपूर्ण कदम उठाते थे, तब यह कहते थे कि "यह मेरी अन्तरात्मा का आदेश है।" सन् १९३९ में जब उन्होंने राजकोट के शासन-सुधारों के प्रश्न पर वहां आमरण व्रत रखा, तब भी उन्होंने यह घोषणा की थी कि वे अन्तरात्मा के आदेश से व्रत आरम्भ करेंगे। परन्तु उस बीच उन्होंने लार्ड लिनलिथगो को एक पत्र द्वारा मामले में हस्तक्षेप के लिये कहा। उन्हें यह भान हुआ कि ऐसा करके उन्होंने हिंसा की है। अतः उन्होंने अपने उपवास में हिंसा की झलक देखी। ईश्वर की प्रेरणा से रखे गये उपवास में भी हिंसा की झलक!

यदि हम स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें, तब तो अन्तःकरण की प्रेरणा को ईश्वर-प्रेरणा मानना पड़ेगा और उस दशा में प्रश्न यह पैदा होगा कि जब प्रत्येक अन्तरात्मा में यह प्रेरणा विद्यमान है, तब सदाचार का उससे बढ़कर और क्या आदर्श हो सकता है। परन्तु

---

‡ Flint : Theism P. 211.

हम देखते हैं कि सांसारिक जीवन में मनुष्य इस प्रेरणा की उपेक्षा ही करते हैं और वास्तव में उच्चतम नैतिक जीवन में ही इसके अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है। परन्तु जो लोग निशि-दिन बुरे कार्यों में व्यस्त रहते हैं, उनमें यह अन्तःप्रेरणा दब जाती है अथवा इसकी वे अनुभूति करने के योग्य नहीं रहते। ऐसी दशा में उनके लिये सदाचार का क्या आदर्श होगा?

यदि हम अन्तःकरण की आवाज़ को ही सदाचार का आदर्श मान लें, तो हम उसमें एकसमता का आरोप न कर सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही ढंग से अपनी अन्तरात्मा के प्रकाश में अपने कार्यों के औचित्य का निर्णय करेगा। तब समाज में सदाचार का कोई सर्वमान्य आदर्श कैसे स्थापित हो सकेगा?

कभी कभी ऐसा अनुभव होता है कि अन्तःकरण की प्रेरणा के सम्बन्ध में हम तर्क-वितर्क करते हैं और तब बुद्धि द्वारा उसके विषय में किसी निश्चय पर पहुंचते हैं। ऐसे समय हमें यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि केवल-मात्र अन्तःकरण की भावना ही हमारा मार्ग दर्शन नहीं करती। हम अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा भी निश्चय करते हैं।

अन्तःकरण को ही सदाचार का आदर्श मानने में एक दूसरी आपत्ति यह है कि वह हमें सदाचार के लक्ष्य की ओर नहीं ले जाता। उसे तो हम साधना द्वारा लक्ष्य की ओर प्रेरित करते हैं।

## सौन्दर्यवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य ही सदाचार का अन्तिम आदर्श है। इसके अनुसार जो सुन्दर है, वही श्रेष्ठ है, सदाचार है और जो असुन्दर है, वही निकृष्ट और दुराचार है। सौन्दर्य-भावना द्वारा तुरन्त ही मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक सुन्दर है अथवा असुन्दर। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान रस्किन, शाफ्टसबरी तथा हचिन्सन इसी मत के समर्थक हैं। रस्किन का कथन है, "रुचि नैतिकता अथवा सदाचार की

निर्देशिका है। वही केवल-मात्र सदाचार है। मुझे यह बतला दीजिये कि आपकी रुचि कैसी है; तो मैं बतलाऊंगा कि आप कैसे हैं।"

यह सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। सर्व प्रथम तो यह बड़ा विवाद-ग्रस्त विषय है कि वास्तव में सौन्दर्य है क्या। क्या सौन्दर्य का प्रयोजन प्राकृतिक सौन्दर्य से है अथवा शारीरिक या आध्यात्मिक सौन्दर्य से? मनुष्य का दृष्टि कोण भी समान नहीं है। प्रत्येक देश, काल और युग में सौन्दर्य की भावना समान नहीं है। इसलिये सौन्दर्य को सदाचार का आदर्श नहीं माना जा सकता।

नैतिक चेतना के साथ नैतिक दायित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु सौन्दर्य की भावना में दायित्व की भावना नहीं है। सौन्दर्य का आधार भावना है और भावना में परिवर्तन होता रहता है। इसलिये उसमें एकरूपता की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। परन्तु सदाचार का आदर्श अपेक्षाकृत स्थायी और एक रूप है।

जो कृति हम में सौन्दर्य-भावना को जगाती है, वह हम में सर्वदा नैतिक भावना को नहीं जगा सकती।

दसवां अध्याय

# क्या आत्मा स्वतंत्र है ?

क्या आत्मा स्वतंत्र है ? क्या प्रकृति से आत्मा की उत्पत्ति हुई है ? क्या आत्मा और परमात्मा एक ही हैं ? क्या आत्मा एक है या अनेक ? आत्मा की स्वतंत्रता का क्या रूप है ? जीवात्मा को अपने कर्मों का फल भोगने में भी स्वतंत्रता है अथवा केवल कर्म करने में ही स्वतंत्रता है ? क्या सुख-दुःख का भोक्ता आत्मा है, अथवा मन और शरीर अथवा ईश्वर ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं, जिन पर आचार-शास्त्र के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। प्रकृति, आत्मा व ईश्वर के सम्बन्ध में भारत और अन्य देशों में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी मत प्रचलित हैं। सृष्टि के आदि से अब तक विद्वानों ने इस विषय में इतना विचार-मंथन किया है कि स्पष्टवादिता के स्थान में उलझन ही अधिक बढ़ गई है। हम इस विषय में संक्षेप में स्पष्ट-रूप से प्रचलित मतों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे। इस सम्बन्ध में तीन प्रधान सिद्धान्त या वाद हैं, जो संसार में किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं—( १ ) त्रैतवाद ( २ ) द्वैतवाद ( ३ ) अद्वैतवाद।

## त्रैतवाद और द्वैतवाद क्या हैं ?

इनके अनुसार इस अखिल ब्रह्माण्ड की रचना ईश्वर, जीव और प्रकृति से हुई है। ईश्वर, जीव और प्रकृति—ये तीनों नित्य, अनादि और अविनाशी हैं। इनकी न कभी उत्पत्ति हुई और न नाश हुआ और न होगा। इनमें ईश्वर सर्वव्यापक, पवित्र, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, निराकार, अजन्मा, और जगत का संचालनकर्ता है। वह

सत्+चित्+आनन्द् है। इसलिये उसे सच्चिदानन्द् कहा गया है। ईश्वर एक है, अनन्त नहीं। जीवात्मा अनन्त हैं। वह सत् और चित् है। वह अजर, अमर, अविनाशी, पवित्र, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह जन्म-मरण के बन्धन में रहता है। उसमें ज्ञान, इच्छा, चेतनता, ईर्ष्या, द्वेष आदि गुण हैं। प्रकृति इन दोनों से भिन्न है। वह सत् है। वह अनादि है और उसका किसी समय नाश नहीं होता। परन्तु वह जड़ है। उसमें चेतनता नहीं है। ईश्वर जीवों और प्रकृति के संयोग से जगत या सृष्टि की उत्पत्ति करता है।

त्रैतवाद् के अनुसार जीव अपने कर्मों के फलानुसार जन्म धारण करता है और उनके फलों का भोग करता है। जहां तक कर्मों का प्रश्न है, जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छानुसार प्रत्येक कार्य कर सकता है। उसकी इच्छा-शक्ति पर कोई बन्धन नहीं है। परन्तु जब वह कोई कर्म कर लेता है, तो उसके फल के भोग से अपने को बचाये रखने में स्वतंत्र नहीं है। यहां वह परतंत्र है। जिस प्रकार किसी राज्य में नागरिकों को नागरिकता के अधिकार शासन-विधान द्वारा प्राप्त होते हैं। वह उनका भोग करता है और स्वतंत्रता से विचार व कार्य करता है। वह सब कुछ कर सकता है। परन्तु यदि वह राज्य के विधान का उल्लंघन करे, तो उसके लिये जो दण्ड की व्यवस्था है, उससे वह अपने को बचाये नहीं रख सकता। राज्य की न्याय-सत्ता तो उसे दण्ड देगी ही। इसी प्रकार ईश्वर के इस अनन्त साम्राज्य में जीवात्मा ईश्वरीय-विधान के अनुसार कार्य करे, तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु यदि वह नियम का उल्लंघन करे, तो उसे दण्ड मिलेगा और उससे वह किसी भी दशा में नहीं बच सकता। जीवात्मा चाहे शुभ कर्म करे, चाहे अशुभ, उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा।

जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है—इसका अर्थ यह है कि वह प्रत्येक कर्म अपनी इच्छा से करता है; किसी अदृश्य सत्ता या परमात्मा की

प्रेरणा या आदेश से नहीं। यदि ईश्वर की प्रेरणा से वह कार्य करे, तो जीवात्मा स्वतंत्र नहीं कहा जासकता। फिर तो वह ईश्वर के बन्धन में हुआ। और जब वह ईश्वर की प्रेरणा से कार्य करता है, तब उस कार्य के लिये उसे उत्तरदायी कैसे ठहराया जासकता है। इसलिये इस प्रकार वह कर्म-फल के भोग से वंचित रहेगा। जब उसे कर्म-फल के भोगने का अधिकार नहीं, तब जो बुरे व भले कर्म वह करेगा, उनका फल ईश्वर को भोगना पड़ेगा। परन्तु ईश्वर पवित्र और धर्मात्मा है। वह जन्म, कर्म और फल के बन्धन से मुक्त है। इसलिये बुरे कर्म वह कैसे कर सकता है।

इस प्रकार यह आपत्ति की जासकती है कि ईश्वर तो सर्व-शक्तिमान है, फिर तो वह सर्व-प्रकार के कर्म करके भी उनके फलों के भोग से बचा रह सकता है। परन्तु इस तर्क में कुछ भी सार नहीं है। सर्व-शक्तिमान होने का मतलब यह नहीं कि वह ( ईश्वर ) ऐसे कर्म करे जो उसके विधान के विरुद्ध हों। उसके सर्वशक्तिमान होने का अर्थ तो यह है कि वह सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, प्रलय और जीवों की यथायोग्य व्यवस्था में किसी की सहायता पर निर्भर नहीं है। स्वामी दयानन्द ने अपनी पुस्तक सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है, "जीव कभी न उत्पन्न हुआ, अनादि है। ईश्वर और जगत का उत्पादन कारण निमित्त है और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं; परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, वचन, कर्म से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है; ईश्वर नहीं। जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उसे किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दूकान से ले लोहार ने एक तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहां जैसे लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता

है। इसी प्रकार शरीर आदि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कार्यों का भोक्ता नहीं है। परन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म करता, तो कोई जीव पाप नहीं करता; क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिये जीव अपने काम करने में स्वतंत्र है। जैसे जीव अपने काम करने में स्वतंत्र है, वैसे परमेश्वर भी अपने काम करने में स्वतंत्र है।" *

जीवात्मा के गुण क्या हैं ?—न्यायदर्शन के अनुसार जीवात्मा में (१) इच्छा (२) द्वेष (३) प्रयत्न (४) सुख (५) दुःख (६) ज्ञान गुण हैं। वैशेषिक के अनुसार इन उपर्युक्त ६ गुणों के अतिरिक्त निम्न लिखित उसके गुण हैं—(७) प्राण (८) अपान (९) निमेष (१०) उन्मेष (११) मन (१२) गति (१३) इन्द्रिय (सब इन्द्रियों का चलाना) (१४) अन्तर्विकार (क्षुधा, हर्ष, शोक)। आत्मा सूक्ष्म है। उसकी प्रतीति इन्हीं गुणों से होती है। जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है, तब तक उसमें चेतनता रहती है, और वियोगान्त में शरीर जड़ रह जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार जीव और ईश्वर—ये दोनों भिन्न हैं। वे एक नहीं हैं। ईश्वर एक ही है और वही जगत का रचयिता है। जीव असंख्य हैं।

## अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के अनुसार केवल ब्रह्म—एक ब्रह्म ही जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म ने ही रचा है। वह सर्व-व्यापक और सर्वशक्तिमान होने से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी में—चेतन में—उसी के कारण चेतनता है। जीव ईश्वर से

---

* स्वामी दयानन्द : सत्यार्थप्रकाश (श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी-संस्करण) प्रथमावृत्ति सं० १९९० पृ० २३२

भिन्न नहीं है। वह प्रकृति की सत्ता को भी नहीं मानता। वह प्रकृति और जगत को माया या मिथ्या मानता है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक व्याख्यान में लिखा है, "अखिल ब्रह्माण्ड एक है। ब्रह्माण्ड में केवल एक आत्मा है; केवल एक सत्ता है। और जब वह सत्ता समय, स्थान, और कारण के रूपों में प्रवेश करती है, तब वह बुद्धि कहलाती है। समस्त शारीरिक और मानसिक रूपों में एक परमात्मा ही परिव्याप्त है। जब उसका एक अंश समय, स्थान और कार्य-कारण में प्रवेश करता है, तब वह रूप धारण कर लेता है। समय, स्थान और कार्य-कारण के जाल को दूर कर दीजिये, तो सब एक दिखाई देगा। सब ब्रह्माण्ड एक है। यही अद्वैत दर्शन-शास्त्र है। ब्रह्म, इस ब्रह्माण्ड के रचयिता के रूप में ईश्वर है— परमात्मा है; प्राणियों में वही आत्मा है। इस प्रकार मनुष्य में ईश्वर ही आत्मा है। सृष्टि में केवल एक ही पुरुष है और वह है ईश्वर; और जब ईश्वर और मनुष्य का विश्लेषण किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि वे एक ही हैं। ...

"अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ब्रह्म एक होकर भी इतने जीवों में कैसे अलग अलग बंट गया। इसका उत्तर यह है कि यह सब विभाजन असत्य है। हम यह जानते हैं कि अनन्त को हम विभाजित नहीं कर सकते। इसलिये यह विचार कि आप एक अंश हैं, मिथ्या है। यही माया है, स्वप्न है। इसे जान लीजिये और फिर आप स्वतंत्र हैं। यह अद्वैत का सार है—"मैं न मन हूं; न शरीर और न इन्द्रिय; मैं सच्चिदानन्द हूं। यही ज्ञान है और इतर सब अज्ञान है।" *

योगिराज अरविंद भी अद्वैतवाद के समर्थक हैं। उन्होंने लिखा है, "मानवीय सामाजिक और राजनीतिक प्रयास एक परिधि में चक्कर

* Swami Vivekanand : The Science & Philosophy of Religion P. 61.

काटता है और हमें कहीं भी नहीं ले जाता। मानव-जीवन और मानव-प्रकृति सदैव समान रहती है; सदैव अपूर्ण। न कानून और संस्थाएं और न शिक्षा, दर्शन, सदाचार अथवा धार्मिक उपदेश मनुष्य को पूर्ण बनाने में सफल हुए हैं, और पूर्ण मानवता की प्राप्ति में तो और भी असफलता रही है। आप कुत्ते की पूंछ को चाहे जितना सीधा कीजिये। कहा जाता है कि वह अपने स्वाभाविक रूप में टेढ़ी रहती है। परमार्थवाद, दानशीलता, सेवा-भावना, ईसाई-प्रेम अथवा बौद्ध-दया ने संसार को तनिक भी आनन्दमय नहीं बनाया है। वे कभी कभी क्षणिक सुख तो प्रदान कर देते हैं—संसार के दुःखों की अग्नि पर दो बूंद जल डाल देते हैं।" *

तब संसार में शान्ति और सुख कैसे मिले ? योगिराज लिखते हैं, "अपनी सच्ची आत्मा का शोधन करके उसकी सच्चाई के अनुसार जीवन बिताने से इस समस्या का अन्तिम रूप से समाधान हो सकता है। कर्मक्षेत्र में कठिनाइयां और संघर्ष और सच्ची आत्मा को अर्पित आपके कर्म दैवी-कर्म का रूप धारण कर लेते हैं। तब अपनी आत्मा को जानो; अपनी आत्मा को ही ईश्वर जानो; जैसा तुम जानते हो, वैसे ही अपना जीवन बनाओ; अपनी अत्युच्चतम आध्यात्मिक प्रकृति के अनुसार रहो; ईश्वर के साथ तदाकार हो जाओ। तुम में जो सर्वोच्च और एक आत्मा है उसी को अपने कार्य अर्पित कर दो। और अन्त में अपने को भी उसी के अर्पित कर दो।......" †

आधुनिक ससार के एक सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी ने भी अद्वैतवाद का ही समर्थन किया है—

"मुझे संसार के नश्वर साम्राज्य की इच्छा नहीं है, मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य की प्राप्ति का यत्न कर रहा हूं, जो कि आध्यात्मिक मुक्ति है।

---

* Shri Aurobindo : The Life Divine.

† Shri Aurobindo : Essay on Gita.

मेरी मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्य-मात्र की निरन्तर सेवा में से होकर ही है। मैं तो जीवमात्र से अपनी एकता कर देना चाहता हूं; गीता के शब्दों में, मैं 'समः शत्रौ च मित्रे च' (मित्र और शत्रु में समदृष्टि) होना चाहता हूं। अतः मेरी देश-भक्ति भी अनन्त शान्ति तथा मुक्ति की ओर मेरी यात्रा का एक पड़ाव-मात्र है। जिससे प्रकट है कि मेरे लिये धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नहीं।" *

ईश्वर के विषय में उन्होंने लिखा है—

"वह एक अलक्षणीय रहस्यमय शक्ति है, जो वस्तु-मात्र में व्याप्त है। मैं इसे देखता नहीं, परन्तु इसे अनुभव करता हूं। यह अदृष्ट शक्ति अनुभव द्वारा ही गम्य है। प्रमाणों से इसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि मेरी इन्द्रियों से गम्य जो कुछ भी है, उस सब से यह शक्ति सर्वथा भिन्न है। इसकी सत्ता बाह्य साक्ष्य से नहीं, प्रत्युत उन व्यक्तियों के रूपान्तरित व्यवहार तथा आचरण से सिद्ध होती है, जिन्होंने अपने अन्तःकरण में ईश्वर का अनुभव कर लिया है। यह साक्षी पैगम्बरों और ऋषियों की अविच्छिन्न शृंखला के अनुभवों से सब देशों और सब कालों में निरन्तर मिलती रही है। इस साक्षी को अस्वीकार करना अपने आपको अस्वीकार करना है।" †

एक अन्य स्थान पर जीवात्मा और ईश्वर की अभिन्नता स्वीकार करते हुए गांधी जी ने लिखा है:—

"लाखों गूंगों के हृदय में जो ईश्वर विराजमान है, मैं उसके अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वर को नहीं मानता। वे उसकी सत्ता को नहीं जानते; मैं उसकी सत्ता को जानता हूं और मैं इन लाखों की सेवा द्वारा उस

---

* C. F. Andrews: Mahatma Gandhi: His own Story P. 357

† M. K. Gandhi. Young India "Oct. 1928."

ईश्वर की पूजा करता हूं जो सत्य अथवा उस सत्य की जो ईश्वर है।"*

श्री पंडित मदनमोहन मालवीय ने अपनी 'ईश्वर' नाम्नी एक पुस्तिका में भी अद्वैतवाद का समर्थन किया है। मालवीय जी ने लिखा है, "यह परमात्मा जीव-रूप में प्रत्येक जीवधारी के हृदय के बीच में विराजमान है।"

## अद्वैतवाद की आलोचना

प्रस्तुत अध्याय में विचारणीय विषय है आत्मा की स्वतंत्रता अर्थात् क्या आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है ?

इस पर हमने भारतीय दर्शन के द्वैतवाद और अद्वैतवाद इन दोनों के मन्तव्यों का उल्लेख किया है।

अद्वैतवाद के अनुसार अखिल ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सत्ता है और वह है ईश्वर। ईश्वर एक है; वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अविनाशी, अनन्त, सृष्टि का पालन और संहार करने वाला, सनातन, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, नित्य, पवित्र, निराकार और न्यायकारी तथा सृष्टि-कर्ता है, परन्तु वह प्राणी-मात्र, जीव-मात्र यहां तक कि विटप-वृक्षों में भी विद्यमान है। वह चेतन और जड़ सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है।

उसके अनुसार जगत स्वप्नवत्, रज्जू में सर्प, सीप में चांदी, मृगतृष्णा में जल आदि की भांति मिथ्या है। जीव अज्ञान से पैदा होता है और वह शरीर धारण करता है; जब ज्ञान से उसके अज्ञान का आवरण हट जाता है तो विशुद्ध ब्रह्म के रूप में वह प्रकट हो जाता है। इसलिये जीव और ब्रह्म एक ही है। उनमें भिन्नता नहीं है।

अब कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार कर इस वाद पर विचार किया जाय तो स्पष्ट ही इसका दोष प्रकट हो जायगा। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार जीव कर्म करता है। वह जो भी कर्म करता है, उसका फल मिलता है। इससे सभी सहमत हैं। संसार में यह भी देखा जाता है

* Harijan : "March 1939."

कि मनुष्य भले-बुरे सभी प्रकार के कार्य करता है। अब यदि जीव की ईश्वर से भिन्न सत्ता न मानी जाय, तो भले-बुरे, पाप-पुण्य का कर्ता ईश्वर को माना जायगा। परन्तु ईश्वर स्वभाव से पवित्र है। इसलिये वह पाप नहीं कर सकता। तब मनुष्य के कर्मों का कर्ता ईश्वर से भिन्न कोई होना चाहिये।

यदि ईश्वर ही मनुष्य के कर्मों का कर्ता मान लिया जाय, तो अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उसके कर्मों का फल देने की व्यवस्था कौन करेगा। यदि ईश्वर—कर्मों के कर्ता—को ही व्यवस्था देने वाला मान लिया जाय, तो फिर क्या वह न्यायकारी रहते हुए बुरे कर्मों के फल से बचा रह सकता है। कदापि नहीं। तब ईश्वर पवित्र कहां रहा। जब वह स्वयं पाप कर सकता है, तब वह प्राणियों का कैसे कल्याण कर सकता है।

न्यायदर्शन में गौतम ने लिखा है--

पूर्वकृत फलानु बन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ३ । २ । ६३ ॥

पूर्व जन्म में किये हुए कर्म के फल के रूप में शरीर की उत्पत्ति होती है अर्थात् जो शरीर हम इस जन्म में पाते हैं वह पूर्व जन्म के संस्कारों से इष्ट की रक्षा और अनिष्ट के विनाश के लिये दिया जाता है।

जब ईश्वर सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजन्मा और निराकार है, तब उसे प्राणियों के शरीर में जन्म लेने की क्या आवश्यकता है ?

अब उस पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। यदि ईश्वर संसार के समस्त जीवों के रूप में व्याप्त है, तो जब वह एकरस, पवित्र, और सच्चिदानन्द है, तब समस्त जीवों में एकरसता क्यों नहीं है ? उन सबों में समान रूप से पवित्रता क्यों नहीं है और उनमें आनन्द का अभाव क्यों है ? वे पाप क्यों करते हैं ? उन्हें दुःख क्यों होता है ? अद्वैतवाद इन प्रश्नों का कोई उत्तर सन्तोषजनक ढंग से नहीं देता।

## पाश्चात्य दार्शनिक और आत्मा की स्वतंत्रता

### प्लोटिनस ( १५० ईसवी सन् )

प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति भलाई की ओर है; जो उसे इस मार्ग से विचलित करता है, वह अनैच्छिक है और जो उसे इस ओर प्रवृत्त करता है, वह ऐच्छिक है। मनुष्य की स्वाधीनता का सार इसी में है कि वह आत्मा के स्वभाव के अनुसार पवित्र और पूर्ण जीवन बितावे।

### टरट्लियन ( १६०– २२० )

क्या ईश्वर पाप की उत्पत्ति को नहीं रोक सका ? यदि वह ऐसा करने में समर्थ था, तो क्यों नहीं किया ? टरट्लियन उत्तर देता है कि पाप की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं अपितु मनुष्य से हुई। ईश्वर ने मनुष्य को पाप-पुण्य करने के लिये स्वतंत्र बनाया।

### सेंट अगस्टेन ( ३५३-४२६ )

मनुष्य स्वतः कोई भलाई नहीं कर सकता। वह जो कुछ भी भलाई करता है, वह ईश्वर की प्रेरणा का ही फल है। इच्छा पर ईश्वर का नियंत्रण है। ईश्वर कुछ शुद्धात्माओं को चुन लेता है, उन्हें वह शान्ति के साम्राज्य का सुख देता है और शेष को दुःख और नरक-यातना भोगनी पड़ती है। 'जिन्हें वह उपदेश करता है, उन्हें दया का उपदेश करता है, जिन्हें वह उपदेश नहीं करता, उन्हें वह न्याय के कारण ही नहीं करता।'

### हौब्स

जब ऐसा होता है कि मनुष्य यह सोचने लगता है कि अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं, और उसे संकल्प करने के लिये अधिक समय नहीं मिलता, तो उसके करने या न करने के साथ आवश्यक रूप से कार्य के अच्छे या बुरे परिणाम का विचार लगा रहता है। क्रोध के समय बदला लेने का विचार, भय के समय बचने का विचार पैदा होता है। ये सब ऐच्छिक कर्म हैं। 'मनुष्य का कोई भी कार्य बिना संकल्प के नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा माना गया है कि वह उसे करने से पूर्व

यह सोच लेता है कि उस कार्य को करना चाहिये या नहीं।'

**लॉक**

स्वतंत्रता से प्रयोजन है अपनी इच्छानुसार कार्य करने या न करने की क्षमता से। लॉक ने अपने ग्रन्थ में यह लिखा है कि प्रश्न यह नहीं है कि इच्छा स्वतंत्र है, बल्कि यह है कि मनुष्य स्वतंत्र है। स्वतंत्रता मनुष्य की स्वेच्छानुसार किसी कार्य के करने या न करने की शक्ति का नाम है। मनुष्य स्वतंत्र है अगर उसके कार्यों का परिणाम उसके मानसिक उद्देश्य— सुख दुःख हैं। वह स्वतंत्र नहीं है यदि कोई बाहरी सत्ता उसे अपने उद्देश्य के अनुसार कार्य करने से रोकती है। *

**स्पिनोज़ा**

मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि यह— मानव-स्वतंत्रता— ईश्वर के स्वभाव के विरुद्ध है। एक अर्थ में ईश्वर स्वतंत्र है, क्योंकि वह अपनी स्वाभाविक आवश्यकता से प्रेरित होकर कार्य करता है। परन्तु मनुष्य को तो इतनी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। उसके कार्यों का निश्चय ईश्वर ही करता है। स्वप्न में हम ऐसे निश्चय करते हैं, मानो जाग्रत अवस्था में हों; हम स्वाधीनता की भावना का अनुभव करते हैं। तब क्या उन स्वप्नों को हम स्वतंत्र मान सकते हैं। जो यह सोचते हैं कि उनकी आत्मा स्वतंत्र-रूप से किसी बात का निर्णय करती है, वे अपनी आंखें खोले हुए भी स्वप्न देखते हैं। ईश्वर पाप का कर्ता नहीं क्योंकि पाप की कोई सत्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्ण है। अपूर्णता तो हमारे अमूर्त विचारों से ही पैदा होती है।

**जानथन एडवर्ड**

इच्छा वह है जिससे मन किसी वस्तु को पसन्द करता है और

---

* A man cannot be free, if his will were determined by any thing but his own desire, guided by his own judgment— Locke.

हमारे शरीर की रचना इस ढंग की है कि मन के इच्छा करने मात्र से शरीर में क्रिया होने लगती है।

स्वेच्छानुसार किसी कार्य के करने की शक्ति का नाम ही स्वतन्त्रता है। वह नियंत्रण या चाप के विरुद्ध है।

**प्रीस्टले**

वह इसे स्वीकार नहीं करता कि हमारी चेतना स्वाधीनता के पक्ष में है। जो कुछ हम विश्वास करते हैं, वह केवल-मात्र यही है कि हम में अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति है। प्रीस्टले यह स्वीकार करता है कि उन समस्त अपराधों में, जिनमें मनुष्य लिप्त होता है, ईश्वर ही कर्ता होता है और मनुष्य तो एक तलवारवत् साधन ही है।

**रीड**

रीड के अनुसार स्वतन्त्रता का प्रयोजन क्या है ? स्वेच्छा की संकल्प-शक्ति का नाम स्वतन्त्रता है। नैतिक स्वतन्त्रता समस्त ऐच्छिक कार्यों पर लागू नहीं होती। बहुत से कार्य सहज प्रवृत्ति द्वारा, अभ्यास से अथवा बिना सोचे-विचारे, होते हैं। स्वतन्त्रता की शक्ति का शिशु-काल में भोग नहीं किया जा सकता। प्रौढ़ होने पर ही उसका भोग सम्भव है।

स्वतन्त्र इच्छा के सम्बन्ध में उसके तर्क निम्न प्रकार हैं :—

१. (क) हम में स्वभाव से ही ऐसा विश्वास है कि हम स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं।

(ख) हमें यह भी विश्वास है कि हम में कार्य पैदा करने की क्षमता है।

(ग) क्या आवश्यकता के सम्मुख आत्म-समर्पण करने के लिये कोई अपने को दोषी ठहरा सकता है ? पश्चाताप की भावना से यह प्रकट होता है कि हम भला काम कर सकते थे।

२. स्वतन्त्रता की भावना के साथ उत्तरदायित्व की भावना संश्लिष्ट

है। किसी कार्य के लिये उत्तरदायित्व ग्रहण करने से पूर्व मनुष्य को वे नियम और उनके दायित्व जानने चाहियें जिनके अनुसार उसे कार्य करना है। अतः जिन कार्यों पर मनुष्य की सत्ता है, उन्हीं के लिये वह उत्तरदायी होता है।

३. मनुष्य का अपनी इच्छा पर नियंत्रण है— यह इससे प्रमाणित है कि वह एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनेक साधनों का प्रयोग करता है।

### हैमिल्टन

हैमिल्टन ने स्वतन्त्र इच्छा के समर्थन में दिये समस्त तर्कों का खण्डन करते हुए भी अपने Law of the Conditioned नियम के आधार पर स्वतन्त्र इच्छा के महत्व की प्रतिष्ठा की है। उसके मतानुसार स्वतंत्र इच्छा का सिद्धान्त न केवल सदाचार के आधार के लिये आवश्यक ही है, प्रत्युत यही एक मात्र सिद्धान्त है जिससे ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया जासकता है।

### जॉन स्टुअर्ट मिल

हैमिल्टन ने चेतना के आधार पर यह निर्णय किया कि इच्छा स्वतन्त्र है। हम या तो प्रत्यक्षतः स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक उत्तरदायित्व द्वारा स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं। मिल इस तथ्य की परीक्षा करता है, कि क्या हम स्वतन्त्र इच्छा का अनुभव करते हैं; क्या हम निर्णय से पूर्व किसी प्रकार के निर्णय करने की योग्यता का अनुभव करते हैं। सत्य कहा जाय तो यह एक सच्चाई है कि हम संभवतः उसका अनुभव नहीं कर सकते, जो होगा। इसलिये स्वतन्त्रता में विश्वास अतीत अनुभूति की व्याख्या-मात्र ही है। यह स्वतन्त्रता की आन्तरिक भावना यह निर्देश करती है कि हमने किसी और ढंग से निश्चय किया होता; पर सच्चाई यह है कि हमने उसे पसंद ही नहीं किया।

पाश्चात्य विचारकों में आत्मा की स्वतन्त्रता के विषय में नाना प्रकार के विचार हैं। हमने संक्षेप में उनके विचार ऊपर दिये हैं। उनके अवलोकन से यह तो स्पष्ट ही है कि उनमें और भारतीय विचारों में बहुत कुछ साम्य है। हम उनकी विचारधाराओं को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहली विचार-धारा के अन्तर्गत वे सभी विचारक आजाते हैं जो आत्मा को स्वतन्त्र मानते हैं; वह कार्य करने में स्वतंत्र है। आत्मा स्वयं अपनी इच्छानुसार कार्य करती है— किसी अदृष्ट शक्ति या ईश्वर की प्रेरणा से नहीं। दूसरी विचार-धारा के अन्तर्गत वे सब विचारक आजाते हैं जो हमारे देश के अद्वैतवादियों के अनुसार आत्मा को स्वतन्त्र नहीं मानते। वह अपनी प्रेरणा से कर्म नहीं करती, प्रत्युत ईश्वर की प्रेरणा से कर्म करती है। उनकी दृष्टि में पाप-पुण्य मनुष्य के मस्तिष्क की भ्रान्ति ही है। वैसे संसार में आध्यात्मिक दृष्टि से न कोई पाप है न पुण्य। यह सब हमारे अमूर्त या निरपेक्ष विचारों का ही फल है।

---

## ग्यारहवां अध्याय

# अहिंसा का सिद्धान्त

भारत की आर्य संस्कृति में अहिंसा का बहुत ही उच्च स्थान रहा है। इस सिद्धान्त को जीवन-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर आर्य-जन इसका पालन करते थे। यह कोरा सिद्धान्त ही न था; प्रत्युत जीवन का नियम था। इसी लिये तो भारत में इसकी बड़ी महिमा रही है। अहिंसा परमोधर्मः— अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। वैदिक धर्म के पश्चात् भारत में बौद्ध और जैन धार्मिक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इन दोनों ही मतों में अहिंसा को प्रधान स्थान दिया गया। आधुनिक युग में हमारे देश के महापुरुष महात्मा गांधी ने अहिंसा की जैसी व्यापक व्याख्या की है तथा उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग करने की जो विधि उन्होंने संसार के सामने रखी है, उससे यह प्रकट होता है कि अहिंसा वास्तव में गांधी जी के लिये जीवन का एक नियम ही नहीं, धर्म था। वे कभी कभी अहिंसा की ऐसी व्याख्या करते थे कि जिससे यह अभिव्यक्त होता था कि वह उनके लिये साधन न रहकर साध्य बन गई है। हम अपने इस कथन को आगे और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु यहां हम केवल इतना ही कहना उपयुक्त समझते हैं कि गांधी जी के अहिंसा-सिद्धान्त का क्षेत्र अतीव व्यापक है और जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें उसका सफल प्रयोग न किया जा सके।

## अहिंसा क्या है ?

अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है, जो 'हिंसा' में 'अ' जोड़ने से बना है — अ + हिंसा। हिंसा का अर्थ है किसी प्राणी को मन, वचन और शरीर से कष्ट देना, दुःख देना अथवा उसकी हत्या करना। इसलिये अहिंसा का अर्थ हुआ मन, वचन और शरीर से किसी प्राणी को कष्ट न देना। मन में यदि किसी प्राणी के प्रति हिंसा का भाव है, तो यह अहिंसा नहीं। भले ही उसे कार्य-रूप में परिणत न किया गया हो। इसी प्रकार यदि कोई कटु वचनों, अपमान-जनक और अश्लील शब्दों से किसी व्यक्ति या प्राणी को दुःख देता है तो यह भी हिंसा होगी। किसी प्राणी के शरीर को कष्ट देना, अथवा उसे मारना तो स्पष्ट रूप में हिंसा है।

महर्षि कपिल ने अपने योग-दर्शन में ईश्वर-प्राप्ति अथवा आत्म-दर्शन के जो आठ साधन बतलाये हैं, उनमें सर्व प्रथम यम है। यम पांच हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। इनमें अहिंसा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।

ईश्वर-प्राप्ति के साधनों में अहिसा को सर्व प्रथम स्थान देने का तात्पर्य यही है कि यह हमारे जीवन का मौलिक सिद्धान्त है। अपने जीवन— व्यक्तिगत और सामाजिक में अहिंसा को चरितार्थ किये बिना हम जीवन के अन्य नियमों का पालन भी नहीं कर सकते।

## अहिंसा का महत्व

यदि हम में अहिंसा नहीं है, तो हम सत्य की भी साधना नहीं कर सकते। यथार्थ भाषण आदि व्यवहार का नाम सत्य है। आत्मा में किसी विषय का जैसा बोध हुआ हो, उसे निष्कपट विशुद्ध भाव से दूसरे पर व्यक्त कर देना ही सत्य है अथवा उसके अनुसार अपने जीवन को बनाना। जिस व्यक्ति का मन और आत्मा हिंसामय विचार, भावों और

आचरण से मलिन हैं, वह वास्तव में सत्य का पालन नहीं कर सकता। हिंसा मनुष्य में कायरता, ग्लानि, भय, क्रूरता आदि भावों को पैदा करती है। और जिस व्यक्ति में ये भाव विद्यमान हों वह सत्य का क्या बोध कर सकेगा।

इसी प्रकार वह अस्तेय धर्म का भी पालन नहीं कर सकता। अस्तेय का अर्थ है मन, वचन, कर्म से किसी के द्रव्य का अपहरण न करना। जो हिंसा में विश्वास करने वाला है, जिसे किसी को मन, वचन व शरीर से कष्ट पहुँचाने में तनिक भी संकोच नहीं, वह कब अस्तेय का पालन कर सकता है।

अहिंसा का पालन न करने वाला व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन भी नहीं कर सकता। जिसका हिंसा में विश्वास है, वह अपने को आठ प्रकार के मैथुनों से बचाये नहीं रख सकता। किसी स्त्री के साथ भोग करना या किसी की पुत्री या पत्नी के साथ बलात्कार करने में जब वह हिंसा ही नहीं समझेगा तब वह किस प्रकार इससे बचा रह सकता है।

इसी प्रकार हिंसा में विश्वासी व्यक्ति न सन्तोषी बन सकता है, न वह तप कर सकता है और न वह कोई सत्-कार्य ही कर सकता है। इसीलिये अहिंसा का इतना बड़ा महत्व है। वह हमारे जीवन का आधार-स्तम्भ है।

## आदर्श और व्यवहार्य अहिंसा में अन्तर

आदर्श या विशुद्ध अहिंसा का पालन तो व्यक्तिगत साधना का विषय है। योगी अथवा साधक ही उसका पालन करने में शक्य हैं। क्योंकि लोकाचार का पालन करने में हमारे जीवन में प्रति दिन अनेक अवसर आते हैं जब कि अहिंसा में विश्वास करने वाले भी हिंसा, कर्म में नहीं तो मन तथा वचन द्वारा तो करते ही हैं।

योगी या साधक के लिये तो यह विधान है कि वह निर्वैर रहे; सब प्राणियों में समबुद्धि रखे। किसी हिंसक जन्तु की हत्या का विचार भी

मन में न लावे और न किसी से ईर्ष्या और द्वेष ही करे। उसे वास्तव में विश्व-प्रेम का आदर्श स्थापित करना चाहिये।

परन्तु इस आदर्श अहिंसा का लोक-व्यवहार में कहां तक पालन किया जासकता है, यह स्पष्ट ही है। गांधी जी के अतिरिक्त आज भारत में ऐसे कितने लोग हैं जो उनकी तरह दक्षिणी अफ्रीका के अत्याचारों को सहन कर सकें और मन में जरा भी रोष न लावें। यदि राजपथ पर जाते हुए किसी शान्तिप्रिय नागरिक को कोई दूसरा व्यक्ति सहसा चपत मार दे, तो क्या आप यह मान लेंगे कि वह उस चपत को सहन कर लेगा और उस व्यक्ति के प्रति कोई बदला लेने की बात तक मन में न लावेगा। यदि वह शक्ति-हीन होगा, तो कम से कम कुछ बड़बड़ाकर अथवा अपशब्द बोलकर ही उस अत्याचार की निन्दा करेगा।

व्यवहार्य अहिंसा— जिसे लोक-व्यवहार में प्रयोग किया जासकता है— ही मनुष्य के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। गांधीवाद के श्रेष्ठ व्याख्याकार श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने यह स्वीकार किया है कि आदर्श अहिंसा का पालन मनुष्य-समाज के लिये शक्य नहीं है; इसी लिये उन्होंने व्यवहार्य अहिंसा को मानव-समाज के लिये उपयोगी बतलाया है। व्यवहार्य अहिंसा में पूर्ण रूप से शुद्ध विश्व-प्रेम की भावना तो नहीं होती, परन्तु उसमें किसी व्यक्ति या प्राणी को अपने स्वार्थ के लिये हानि पहुंचाने का भी भाव नहीं होता। श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने लिखा है, "यदि एक मनुष्य चाहे तो उसके लिये शुद्ध अहिंसक अर्थात् परोपकारी, उदार, निःस्वार्थी होना असम्भव नहीं है। परन्तु स्पष्ट है कि यह स्वभाव जबरदस्ती से नहीं आ सकता। मनुष्य उसे अपनी राजी-खुशी से ही प्रकट कर सकता है। शुद्ध अहिंसा दिखाना और अपने अधिकारों का दावा भी पेश करना—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। परन्तु शुद्ध अहिंसक होते हुए भी दुष्कर्म से प्रेम नहीं किया जासकता। उसकी घृणा तो रहेगी ही।......

"...व्यवहार्य अहिंसा में हिंसात्मक उपाय शामिल नहीं हो सकते; अलबत्ता शुद्ध अहिंसा की वृत्तियां हो सकती हैं। अथवा यों कह लीजिये कि हर प्रकार की स्वार्थ-वृत्ति में बुराई का होना आवश्यक नहीं है और भलाई के अंश का उससे विरोध नहीं है। इस तरह व्यवहार्य अहिंसा की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की जा सकती है।

"बुराई से रहित और भलाई के अंश से युक्त न्याय्य स्वार्थवृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है।" *

## गांधीवादी अहिंसा

अब हमें यह विचार करना है कि महात्मा गांधी की अहिंसा-कल्पना क्या है; उनकी अहिंसा-व्याख्या क्या है। अपनी आत्म-कथा में गांधी जी ने लिखा है—

"अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं जो हिंसा की होली में फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना नहीं रह सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते सभी क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न करना चाहता हो और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिये कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी: परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।" ‡

अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार उनके निम्न

---

* श्री किशोरलाल घ० मश्रूवालाः अहिंसा-विवेचन पृ० १३—१५

‡ महात्मा गान्धीः आत्म-कथा द्वितीय भाग ( १६२६ ) पृ० २१२

लिखित सूत्रों में समा जाते हैं जो उनके लेखों तथा भाषणों में प्रकाशित हो चुके हैं :—

१. अहिंसा का अर्थ अधिक से अधिक प्रेम है। वह ही सर्वोपरि नियम है; केवल उसी के बल पर मानव-जाति की रक्षा हो सकती है।

२. अहिंसा, जो सब से वीर और बलिष्ठ हैं, उनका शस्त्र है। ईश्वर के सच्चे जन में तलवार चलाने की शक्ति होती है, लेकिन वह चलायेगा नहीं, क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक आदमी ईश्वर का प्रतिरूप है।

३. प्रेम दूसरों को नहीं जलाता, स्वयं जलता है, खुशी खुशी कष्ट सहते मृत्यु तक आलिंगन करता है। किसी एक अंग्रेज़ की भी देह को वह मन, वचन, या कर्म से, जानबूझकर क्षति नहीं पहुँचायेगा।

४. अहिंसा और सत्य अभिन्न हैं और एक का ध्यान करो कि दूसरा पहले ही आ जाता है।

५. मानव-प्रकृति तत्वतः एक है और इसलिये अन्यायकारी अन्त में प्रेम के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता।

६. अहिंसा के लिये सच्ची विनम्रता चाहिये, क्योंकि 'अहं' पर नहीं, केवल ईश्वर पर निर्भर होने का नाम अहिंसा है।[1]

७. हम चोरों को इसलिये दण्ड देते हैं, क्योंकि हमें वे तंग करते हैं, कुछ समय के लिये वे हमें छोड़ देते हैं, पर अपना ध्यान हमारे ऊपर से हटाकर दूसरे शिकार पर केन्द्रित करते हैं। यह दूसरा शिकार दूसरे रूप में हम ही हैं। इस प्रकार हम एक चंडाल-चक्र में फंस जाते हैं।... कुछ समय बाद हम यह अनुभव करने लगते हैं कि चोरों को सह लेना उन्हें दण्ड देने से उत्तम है। अगर हम उनको दर गुजर करते आयेंगे, तो आशा है कि उनकी बुद्धि आप ही ठिकाने आ जायगी। जब हम उन्हें सहन करते हैं, तब हम आप ही यह अनुभव करने लगते हैं कि चोर हमसे

---

१. स० राधा कृष्णन् : महात्मा गांधी : अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ११४

२. वही पृ० १३१

भिन्न नहीं, बल्कि हमारे ही सगे-सम्बन्धी और मित्र हैं और उन्हें दण्ड नहीं दिया जा सकता।

गांधी जी की अहिंसा का आधार यह तत्व-ज्ञान है कि समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा अथवा ईश्वर है। इसलिये इस सत्य को मानकर जो जगत में व्यवहार करेगा, वह दूसरों के प्रति हिंसा का व्यवहार नहीं कर सकता।

गांधी जी की अहिंसा विशुद्ध अहिंसा है। वह एक योगी की अहिंसा है। उसमें लोक-व्यवहार के लिये कोई भी अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है।

## अहिंसा और आत्म-रक्षा

गांधी जी की अहिंसा में व्यक्ति को आत्म-रक्षा का भी अधिकार नहीं है। आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति प्राणीमात्र में स्वाभाविक है। प्राचीन-काल के ऋषि-मुनियों और स्मृतिकारों तथा वर्तमान समय के राज्य-विधानों ने भी आत्म-रक्षा के अधिकार को स्वीकार किया है। परन्तु गांधी जी इसमें भी हिंसा मानते हैं। उनका विचार है:—

"यदि एक उपद्रवकारियों का दल किसी सम्प्रदाय की सम्पत्ति नष्ट करने पर उतारू है अथवा मन्दिर या मस्जिद को भ्रष्ट कर देना चाहता है, तो कांग्रेस-जन, चाहे एक हो या अनेक, उस झुंड को रोकने के लिये अपने जीवन का बलिदान कर देंगे।

"उसे (कांग्रेस-जन को) दृढ़तापूर्वक किसी का पक्ष न लेना चाहिये। उसे अपने जीवन का बलिदान कर के भी हिंसा का प्रयोग किये बिना आपत्ति में पडे व्यक्ति की रक्षा करनी चाहिये।

"साम्प्रदायिक या अन्य उपद्रवों के समय जनता का भागकर अपने प्राणों की रक्षा करना भी गांधी जी की दृष्टि में हिंसा है। इसी लिये वे कांग्रेस-जन से यह कहते हैं, "उसे जनता को यह बतला देना चाहिये कि उन्हें खतरे से बचने के लिये भागना न चाहिये।"

हमारी सम्मति में गांधी जी का यह विचार सही नहीं है। आत्म-रक्षा के लिये मनुष्य का उपद्रवकारियों के सामने से भाग जाना कैसे हिंसा है, यह समझ में नहीं आता। यदि आततायियों से अपने जीवन की रक्षा करने के प्रयास से उन्हें मानसिक कष्ट पहुंचे तो क्या इसे हिंसा कहा जायगा। यदि हिंसा की ऐसी व्याख्या की गई, तो इससे समाज में दुराचारियों के लिये प्रोत्साहन ही मिलेगा और सदाचारी बड़े संकट में पड़ जायेंगे।

## अहिंसा की मर्यादा

यद्यपि आदर्श तो यही है कि हम सब प्राणियों को आत्मवत् समझें, हम किसी को मन, वचन और कर्म से हानि पहुँचाने की चेष्टा न करें, हम विश्व-प्रेम के आदर्श को चरितार्थ करें; परन्तु लौकिक जीवन में, लोक-व्यवहार में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब धर्म, न्याय और जीवन की रक्षा के हेतु हिंसा करना धर्म हो जाता है। ऐसे अवसरों पर वह हिंसा हिंसा नहीं रहती, प्रत्युत मानव-धर्म में रूपान्तरित हो जाती है। अब हम संक्षेप में अहिंसा-धर्म की मर्यादाओं का विवेचन करते हैं:—

( १ ) राजा या राष्ट्र को अपनी रक्षा तथा प्रजा में सुव्यवस्था और शत्रु के आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिये हिंसा का प्रयोग करना आवश्यक है। ऋग्वेद के एक मंत्र में स्पष्ट लिखा है—

"हे राजपुरुषो ! तुम्हारे आयुध—अस्त्र-शस्त्रादि शत्रुओं के पराजित करने और रोकने के लिये प्रशंसित और दृढ़ हों। तुम्हारी सेना प्रशंसनीय होवे जिससे तुम सदा विजयी हो; परन्तु जो निन्दित अन्याय-रूप काम करता है उसके लिये पूर्व वस्तुएं न हों।" *

---

* स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥
ऋग्वेद मं० १। सूत्र ३९॥ मंत्र २॥

राज-सत्ता स्वदेश में प्रजा के अपराधों के लिये दण्ड देने के हेतु हिंसा का प्रयोग कर सकती है और वह स्वदेश की रक्षा के लिये भी।

( २ ) मनुस्मृति का यह स्पष्ट आदेश है कि आततायियों का वध करने में कोई पाप नहीं है; वरन् ऐसा करना धर्म है। मनुस्मृति में लिखा है—

"चाहे गुरु हो या पुत्रादि बालक, चाहे पितादि वृद्ध हो या ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों के श्रोता ही क्यों न हों जो धर्म को त्याग अधर्म में लिप्त दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं, उनका बिना सोचे-विचारे वध कर डालना चाहिये।" ( मनुस्मृति ८। ३५०। )

आततायी निम्न प्रकार के माने गये हैं:—

( क ) वध करने के लिये उद्यत शस्त्रधारी।

( ख ) सम्पत्ति का अपहरण-कर्ता।

( ग ) स्त्री-अपहरण-कर्ता।

( घ ) गृह में आग लगाने वाला।

( ङ ) विष देकर हत्या करने वाला।

( च ) जो भूमि हर ले जाय।

## अहिंसा और गीता

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब अर्जुन खड़े होकर अपने सगे-संबन्धियों और आचार्यों को विपक्ष में देखता है, तो उसे मोह हो जाता है। उसके शरीर में प्रकम्पन हो जाता है; शरीर रोमांचित हो जाता है और हाथ से गाण्डीव-धनुष गिर पड़ता है। उस समय अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है, "हे कृष्ण! मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धी मुझे मारने के लिये तैय्यार भी हों, तो हे मधुसूदन! मैं इनके मारने की इच्छा नहीं करता। तीनों लोकों के राज्य के हेतु भी मैं इनके मारने की इच्छा नहीं करता; तब क्या इस तुच्छ भूमि के टुकड़े के लिये मैं

धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारूं। इन आततायियों को मारकर हमको उल्टा ही पाप लगेगा; धृतराष्ट्र के पुत्र जो हमारे बन्धु हैं, हम इनको मारना उचित नहीं समझते। अपने जनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?" *

उस समय श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं, "हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! तुम कायर मत बनो। यह तुम में नहीं होनी चाहिये। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ उठो। हे भारत ! सब प्राणी-मात्र के देह में यह जीवात्मा नाशरहित है। इसलिये सब प्राणियों का तू शोक करने योग्य नहीं अर्थात् जीवात्मा अविनाशी है, वह मरता नहीं। इसलिये तुम जीव-हत्या के भय से क्षात्र-धर्म का क्यों परित्याग करते हो ?

"अपने धर्म को देखकर भी तुम्हें युद्ध से हटना उचित नहीं। निश्चय करके धर्म-युद्ध से अन्य क्षत्रिय के लिये कल्याण का मार्ग कोई नहीं।

"हे पार्थ ! यह युद्ध अकस्मात् प्राप्त हुआ है जो स्वर्ग का द्वार है। ऐसे युद्ध को बड़े पुण्यात्मा क्षत्रिय सुख से लाभ करते हैं। यदि तुम इस धर्म-पूर्वक युद्ध को न करोगे, तो तुम अपने धर्म और कीर्ति का नाश कर पापी बनोगे। और लोग तुम्हारे अपयश का सदा कथन करेंगे और आदरणीय पुरुष की अपकीर्ति मरण से भी अधिक होती है। योद्धा लोग तुम्हें भयभीत होकर रण से हटा मानेंगे और जिनके बीच तुम बड़े हो, उनके बीच छोटे बनोगे।" ‡

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में भाग लेने के लिये तीन प्रकार से प्रेरित किया :—

(१) सब से प्रथम तो उसके मोह को नष्ट करने के लिये आत्मा की

---

* गीता प्रथमोध्याय ३५-३६

‡ ,, द्वितीयोध्याय ३०-३२-३४

अमरता का सन्देश दिया ।

(२) दूसरे क्षत्रिय धर्म का स्वरूप बतलाया । क्षत्रियों का क्या कर्तव्य है ।

(३) तीसरे लोक में अपयश का भय भी दिखलाया । यदि अर्जुन ने क्षत्रिय धर्म का पालन नहीं किया तो लोक में, ससार में उसकी अप-कीर्ति होगी ।

श्रीकृष्ण अपनी गीता में एक स्थान पर हिंसा के विषय में कहते हैं, "सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय समान समझकर युद्ध के लिये तैयार हो, इस प्रकार तू पाप को प्राप्त न होगा ।"

इसके आगे उन्होंने कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्तियोग का उपदेश दिया । इससे अर्जुन का मोह नष्ट हो गया और वह धर्म-क्षेत्र में युद्ध के लिये तैयार हो गया । फलतः महाभारत का युद्ध १८ दिन तक हुआ जिसमें करोड़ों योद्धा मारे गये ।

महाभारत के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि वह एक भौतिक युद्ध था । श्रीकृष्ण, पाण्डव, कौरव आदि ऐतिहासिक पुरुष हैं । कुरुक्षेत्र की भूमि तो आज भी इसी नाम से विख्यात है और पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ भी आज विख्यात है । उनका किला भी खण्डहर-रूप में विद्य-मान है । परन्तु गांधी जी अपनी अहिंसा की सिद्धि के हेतु गीता को तो मानते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध को एक प्रकार का देवासुर-संग्राम मानते हैं जिसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं था, प्रत्युत वेदव्यास की कल्पना ही है । गांधी जी ने गीता के अपने भाष्य में लिखा है :—

"सन् १८८८—८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ, तभी मेरे मन में यह बात आई कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहने वाले द्वंद्व-युद्ध का ही वर्णन है । मानुषी योद्धाओं की रचना हृदय-गत युद्ध को रोचक बनाने के लिये एक कल्पना के रूप में है ।

यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने पर पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने के बाद उपरोक्त विचार और भी दृढ़ होगया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदि-पर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को धो बहाया है। उनमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक ही हो सकते हैं, परन्तु महाभारत में तो व्यास भगवान ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिये ही किया है। महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चाताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा।"

गांधी जी का यह कथन है कि महाभारत ऐतिहासिक नहीं है, बस व्यास भगवान की कल्पना का चित्र है, सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक है। गांधी जी श्रीकृष्ण को कल्पित मानते हैं अथवा ऐतिहासिक ? क्या वे पाण्डवों और कौरवों को कल्पित मानते हैं या ऐतिहासिक ? क्या कुरुक्षेत्र की भूमि कवि-कल्पना है ?

युद्धान्त में यदि किसी पक्ष को दुःख, वेदना और पश्चाताप हो, तो इसका यह मतलब नहीं कि इसके कारण युद्ध की वास्तविकता को कोई हानि होती है। गत विश्व-युद्ध को ही ले लीजिये। इसमें अन्त में जर्मन पक्ष की हार हुई। और उसके परिणाम-स्वरूप जर्मनी व जापान वेदना और यातनाएं सह रहे हैं। तब क्या इस कारण यह युद्ध भावी इतिहासकारों की दृष्टि में कल्पित ठहरेगा ? सम्राट अशोक को भी तो कलिंग की लड़ाई के बाद युद्ध से घोर ग्लानि हुई थी। पश्चाताप भी हुआ था। पर क्या इसी से कोई भी विद्वान अशोक की ऐतिहासिकता में सन्देह करेगा ?

## राजनीति में अहिंसा

महात्मा गांधी के अहिंसा-सिद्धान्त की सब से प्रमुख विशेषता तो यह है कि उन्होंने इसका प्रयोग राजनैतिक जीवन में सब से प्रथम बार किया। आज पर्यन्त संसार की राजतीति में सदैव राजदण्ड तथा सैन्य का प्राधान्य रहा। चाहे आप रामायण-काल को लीजिये, चाहे वैदिक-युग को और चाहे महाभारत-युग को, इन सभी युगों में आपको राज-दण्ड और सेना तथा सैनिक-सत्ता का प्राधान्य मिलेगा। हमारे वेदों और शास्त्रों में जहां राजनीति का विधान है, राजदण्ड और सेना की आवश्यकता बतलाई गई है।

परन्तु गांधी जी राजनीति में भी विशुद्ध अहिंसा के पालन पर जोर देते हैं। वे भारतीय राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम में सत्याग्रह के रूप में अहिंसा का प्रयोग २२ वर्ष करते रहे। परन्तु इसे वे 'कमजोरों का अस्त्र' मानते हैं। इसे देश की रक्षा के लिये भी उपयुक्त समझते हैं और साम्प्रदायिक या देश के आन्तरिक उपद्रवों की शान्ति के लिये भी वे अहिंसा को ही अमोघ अस्त्र मानते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में वे सेना अथवा शस्त्रीकरण की आवश्यकता नहीं मानते।

## राष्ट्रीय-रक्षा और अहिंसा

राष्ट्र-रक्षा के लिये बाहरी शत्रु के मुकाबिले में भी हमें अहिंसा का व्यवहार करना चाहिये—यह गांधी जी का विचार है। राष्ट्र बाहरी शत्रु से अपनी रक्षा कैसे कर सकता है, इस विषय में गाधी जी लिखते हैं, "पहला यह कि आक्रमणकारी का अधिकार हो जाने देना, किन्तु उसके साथ सहयोग न करना। इस प्रकार कल्पना कीजिये कि नीरो का आधुनिक प्रतिरूप भारत पर आक्रमण करे तो राज्य के प्रतिनिधि उसे अन्दर आजाने देंगे, लेकिन उससे कह देंगे कि जनता से उसे किसी प्रकार की सहायता न मिलेगी। वह आत्म-समर्पण के बजाय मर जाना

पसन्द करेगी। दूसरा तरीका यह कि जिन लोगों ने अहिंसा की पद्धति से शिक्षा पाई है, उनके द्वारा अहिंसात्मक मुकाबिला किया जाय। वे निहत्थे ही आगे जाकर आक्रमणकारी की तोपों की खाद्य-सामग्री बनेंगे। दोनों ही बातों की तह में यह विश्वास निहित है कि नीरो तक के भी एक हृदय होता है। स्त्री-पुरुष के निरन्तर झुंड के झुंड का आक्रमणकारी की इच्छा पर आत्म-समर्पण करने के बजाय बिना किसी मुकाबिले के केवल मरते जाने का अकल्पित दृश्य अन्त में आक्रमणकारी और उसकी सेना के हृदय को द्रवित किये बिना न रहेगा। व्यावहारिक दृष्टि से भी बलपूर्वक मुकाबिला करने की अपेक्षा संभवतः इसमें जन-हानि अधिक न होगी। और शस्त्रालयों और दुर्ग-पंक्ति पर भी किसी प्रकार का खर्च न होगा।...अन्त में अहिंसात्मक प्रतिरोध में पराजय जैसी वस्तु है ही नहीं। मेरी कल्पना का यह कोई जवाब में जवाब नहीं कि पहले ऐसा कभी नहीं हुआ। मैंने कोई असम्भव चित्र नहीं खींचा है।" *

गाधी जी ने ३ मई १६४० को 'हरेक अंग्रेज के प्रति' नामक एक अपील प्रकाशित की। इस अपील में उन्होंने लिखा :—

"मेरा यह निवेदन है कि युद्ध बन्द किया जाय। इसलिये नहीं कि आप लोग लड़ने से थक गये हैं, बल्कि इसलिये कि युद्ध बुरी चीज है। आप लोग नाज़ीवाद का नाश करना चाहते हैं, मगर आप नाज़ीवाद की कच्ची-पक्की नकल करके नाज़ीवाद का कभी नाश न कर सकेंगे। आपके सिपाही भी आज जर्मन सिपाहियों की तरह नाश में लगे हुए हैं।......

"मैं चाहता हूं कि आप नाज़ियों का सामना बिना हथियारों के करें, या फ़ौजी भाषा में कहा जाय तो अहिंसा के हथियार से मुकाबिला करें। मैं चाहता हूं कि आप अपनी और मानव-जाति की रक्षा के लिये मौजूदा हथियारों को निकम्मा समझ कर फेंक दें। आप हेर हिटलर और सिन्योर मुसोलिनी को बुलायें कि आइये आप हमारे इस भव्य-भवनों

---

* महात्मा गांधी का लेख 'हरिजन-सेवक' (दिल्ली) २० अप्रैल १६४०

से सुशोभित सुन्दर द्वीप पर अपना अधिकार जमा लीजिये। आप यह सब इन्हें दे देंगे, मगर अपना हृदय और आत्मा उन लोगों को हर्गिज़ नहीं देंगे। ये लोग आपके गृहों पर कब्जा करना चाहें, तो आप अपने घरों को खाली कर देंगे। अगर वे लोग आपको बाहर भी न जाने दें, तो आप सब के सब स्त्री-पुरुष-बच्चे कट जायेंगे, मगर उनकी अधीनता स्वीकार न करेंगे। इस तरीके को मैंने अहिंसात्मक असहयोग नाम दिया है और हिन्दुस्तान में यह तरीका काफी हद तक सफल भी हुआ है।" ‡

गांधी जी की इस अपील का उत्तर प्रधान-मंत्री चर्चिल ने और उनके देश-बन्धुओं ने उसी रूप से दिया जिसकी आशा की जासकती थी। जब गांधी जी के देश में ही, जिसमें कि वे २२ वर्ष से अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति की साधना कर रहे थे, स्वदेश-रक्षा में अहिंसात्मक तरीकों के प्रयोग के प्रश्न पर कांग्रेस के उच्चतम कोटि के कर्णधार भी उनकी अहिंसा को नमस्कार करने लगे, तब इस प्रकार की अपील का एक साम्राज्यवादी देश पर, उसकी जनता और सरकार पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? मौलाना आज़ाद, श्री राजगोपालाचार्य, श्री भूलाभाई देसाई, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल आदि नेताओं ने अपना यह स्पष्ट मत प्रकट किया कि देश-रक्षा के लिये शस्त्रास्त्र-सेना की आवश्यकता है।

एक पत्र-प्रतिनिधि ने पं० जवाहरलाल नेहरू से यह जानना चाहा कि उनका 'हरेक अंग्रेज के प्रति' पर क्या विचार है, तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, "यदि मैं अंग्रेज होता, तो इस सलाह को स्वीकार न करता। मैं यह भली भांति जानता हूं कि राष्ट्र पूर्ण अहिंसा को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है और इस सलाह को स्वीकार करने का मतलब होता गुलामी, जो हिंसा से भी बुरी है।" *

‡ 'हरेक अंग्रेज के प्रति' (युद्ध और अहिंसा) पृ० ७३

* Hindustan Times : 28 July, 1940.

महात्मा गांधी की अहिंसा आततायी के समक्ष हथियार डाल देने की शिक्षा देती है। क्या ऐसा करना आत्म-समर्पण नहीं है? जब गांधी जी हिटलर और मुसोलिनी को दोषी, आक्रमणकारी और आततायी मानते हैं, तब क्या उन्हें निमंत्रण देकर इंगलैण्ड में बुला लेना और अपने सर्वस्व को भी उनके चरणों में अर्पण कर देना और यहां तक कि अपने मकानों को भी खाली कर देना, क्या उन अत्याचारियों में अहिंसा, प्रेम व दया की ऐसी उदात्त भावना जगा सकता कि वे उलटे पांव बर्लिन और रोम को वापिस लौट जाते। यदि उनके हृदय में मानवता के प्रति तनिक भी प्रेम होता, तो वे पोलैण्ड पर आक्रमण कर विश्व-युद्ध का बीजारोप ही क्यों करते?

गांधी जी की यह धारणा या विश्वास निर्मूल है कि अहिंसात्मक आचरण का अनुकूल प्रभाव आततायियों, दुष्टों और हिंसक प्रवृत्ति के प्राणियों पर पड़ता है।

## राजकोट में अहिंसा का प्रयोग

मार्च १६३६ में महात्मा गांधी ने राजकोट की शासन-सुधार-कमेटी के प्रश्न को लेकर अपना उपवास आरम्भ कर दिया। जब तक दरबार उनकी सूचनाओं को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक व्रत जारी रहेगा—ऐसी सूचना दरबार को दी गई। व्रत की अवधि में ही गांधी जी ने एक पत्र भारत के वायसराय को इस आशय का लिखा कि वह इस मामले में हस्तक्षेप करे। वायसराय ने यह उत्तर दिया, "आप अपना व्रत त्याग दें; मैं इस मामले को निर्णय के लिये भारत की फेडरल कोर्ट के प्रधान विचारपति को सौंप दूंगा। राजकोट के ठाकुर साहेब ने भी अपनी सम्मति दे दी है।"

वायसराय के सिर्फ इस आश्वासन पर—अपनी मांगों की स्वीकृति पर नहीं—गांधी जी ने व्रत त्याग दिया। २६ दिसम्बर १६३८ की

राजकोट की घोषणा की व्याख्या फेडरल कोर्ट के प्रधान विचारपति ने सरदार पटेल के पक्ष में ही की। निश्चय किया गया कि शासन-कमेटी के १० सदस्यों में से ७ की नियुक्ति सरदार पटेल की सम्मति से की जाय। परन्तु राजकोट के दीवान वीरवाला ने इस कार्य में बड़ी उलझन डाल दी। गांधी जी ने राजकोट में कितने ही दिन ठहर कर इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने वीरवाला के हृदय-परिवर्तन के लिये भारी प्रयास किया, परन्तु सफलता न मिली। तब राजकोट से विदाई ली और अपने एक वक्तव्य में कहा :—

"मुझ में अभी आवश्यक साहस नहीं है। अहिंसा केवल साहसी को ही सुलभ है। और इस तरह मैं खाली हाथ जीर्ण-शीर्ण शरीर को लेकर अपनी आशाओं को दफ़ना कर वापिस आया हूं। राजकोट मेरे लिये एक अमूल्य प्रयोगशाला रही है। काठियावाड़ की दुःखदायी राजनीति ने मेरे सन्तोष की कड़ी परीक्षा ली है। मैंने कार्यकर्त्ताओं से यह कह दिया है कि वे मुझे और सरदार पटेल को भूल जायें और दरबार वीरवाला के साथ बातचीत करें। यदि अपने सन्तोष के लिये उन्हें काफी सुधार मिल जायें, तो हमसे पूछे बिना ही वे उन्हें मंजूर कर लें।···मैं पराजित हो गया हूं। तुम्हारी विजय हो।"

राजकोट से गांधी जी वृन्दावन (बिहार) के गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन में शामिल होने गये। वहां उन्होंने अपने एक भाषण में कहा :—

"सच्ची अहिंसा हिंसा के मुख में दौड़कर जाने में है। यदि गायों में विवेक हो और यदि एक नियत संख्या में गायें चीते के मुंह में दौड़कर जाने में तत्पर हों, तो चीता गाय के मांस से अरुचि करने लगेगा। उसकी प्रकृति बदल जायगी।······मैं यह नहीं कह सकता कि मैं अपने विरोधियों के हृदय को द्रवित करने में हमेशा सफल हुआ हूं। राजकोट ने इस सत्य का मुझे अधिक तीव्रता से अनुभव कराया है।······

"मैं अपनी गलती स्वीकार करता हूं। व्रत की समाप्ति पर मैंने कहा था, इस बार का उपवास पहले के उपवासों से अधिक सफल हुआ है। मैं यह देखता हूं कि उसमें हिंसा थी। व्रत के समय मैंने सर्वोच्च सत्ता द्वारा राजकोट के मामले में शीघ्र हस्तक्षेप के लिये प्रयत्न किया, जिससे ठाकुर साहेब को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये तैयार किया जा सके। यह अहिंसा या हृदय-परिवर्तन का मार्ग नहीं था।" *

जहां महात्मा गांधी जैसे अहिंसा के अद्वितीय आचार्य राजकोट में अपने आचरण द्वारा दरबार वीरवाला की मानव-प्रकृति को बदलने में अशक्त रहे, वहां वे गायों के समूह से यह आशा करते थे कि उनमें बुद्धि हो तो वे अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा चीते की प्रकृति को बदल डालें।

---

* गांधी जी का वक्तव्य १७ मई, १९३९

बारहवां अध्याय

# शक्ति का सिद्धान्त

## शक्ति के सिद्धान्त का आधार

हरबर्ट स्पेंसर की तरह जर्मनी का दार्शनिक नीत्से भी अपने आचार-शास्त्र का आधार जीव-विज्ञान को ही मानता है। उसने देखा कि प्रकृति में जीवन के लिये अविराम संघर्ष चल रहा है। एक जीव दूसरे को अपना भोजन बना रहा है; जो शक्तिशाली है, वह दुर्बल प्राणी को अपना शिकार बनाता है। इस प्रकार प्रकृति में स्वयं यह व्यवस्था है कि दुर्बलों का विनाश हो और शक्तिशाली भोग करें। शौपनहार की तरह जीवन जीने की इच्छा में नहीं है, बल्कि शक्ति के लिये इच्छा में जीवन का सार है।

इस प्रकार नीत्से के अनुसार शक्ति ही जीवन का मौलिक आधार है। उसके अनुसार सामान्य जीवन में शक्ति के लिये संघर्ष कोई उत्तम ध्येय नहीं है, प्रत्युत सर्वोत्तम लक्ष्य तो इसी में है कि युद्ध के लिये चेष्टा की जाय, सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया जाय।

## अच्छाई और बुराई

नीत्से ने अच्छाई और बुराई का आधार भी जीव-विज्ञान माना है। उसके अनुसार "मानव में, जो शक्ति की भावना का आविर्भाव करती है, वही अच्छाई है। बुराई वह है जिसका प्रादुर्भाव दुर्बलता, द्वेष और प्रतिशोध की भावना से होता है। किसी भी वस्तु का नैतिक

मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है कि वह जीवन को प्रगति की ओर अग्रसर करती है अथवा अधोगति की ओर। समग्र सद्गुणों को मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं समझना चाहिये।" *

## विश्व में अनैतिकता

नीत्से के अनुसार संसार स्वभावतः अनैतिक है। संसार तथाकथित नैतिक लक्ष्य या आदर्श की प्राप्ति के लिये उपयुक्त नहीं है। वह मनुष्य के नैतिक लक्ष्य के प्रति बड़ा ही अनुदार है। संसार न भला है और न बुरा ही। मनुष्य के सम्बन्ध से ही वह अच्छा और बुरा है।

उसकी दृष्टि में संसार में अच्छाई-बुराई कोई ऐसे स्थायी गुण-दोष नहीं हैं जो सब काल, देश और अवस्था में अपना समान अस्तित्व रखें। वे भौगोलिक तथा मानव समाज की ऐतिहासिक एवं सामाजिक स्थितियों पर निर्भर हैं। समय और सामाजिक अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ ही साथ उनमें भी परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार अच्छाई और बुराई सापेक्ष शब्द हैं। उनके अनुसार "एक मनुष्य अपने मतलब की जिस बात को अच्छा समझता है, उसे ही दूसरा व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखता है और बुरा समझता है।"

## इच्छा स्वतंत्र नहीं है

नीत्से इच्छा की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता। हमारे कर्म उनके कारणों द्वारा ही निश्चित होते हैं। वातावरण और परम्परा द्वारा ही उनका निश्चय होता है। मनुष्य अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नहीं है।

## स्वामी और दास का सदाचार

संसार में सदैव दो परस्पर विरोधी नैतिक मूल्यांकन रहे हैं; एक 'स्वामियों का सदाचार' और दूसरा है 'दासों का सदाचार'। पहला

* M. A. Mugge : Neitzsche P. 18.

आचार-शास्त्र शक्ति का आचार-शास्त्र है और दूसरा उपयोगिता का आचार-शास्त्र है। रोमवासी पहले आचार-शास्त्र को मानते थे। उनके सद्गुण साहस, पुरुषत्व, वीरता और साहसिक कार्य थे। अपने राजनैतिक आधिपत्य के युग में यहूदियों ने 'दासों के सदाचार' को स्वीकार किया। इसीलिये उन्होंने सौजन्य, विनय, त्याग और सन्तोष जैसे गुणों का विकास किया। 'दासों के सदाचार' में संकट के प्रेम का स्थान शान्ति के प्रेम ने ले लिया। शक्ति का स्थान चातुर्य, कठोरता का दया, मौलिकता का अनुकरण, सम्मान के गौरव का स्थान अन्तःकरण या बुद्धि के अंकुश ने ले लिया। ईसा ने इस मूल्यांकन में पूर्णता की प्रतिष्ठा कर दी। ईसा की दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे और उन्हें समान अधिकार थे। ईसा के इस उपदेश ने लोकतंत्र, उपयोगितावाद, समाजवाद की विचारधाराओं को जन्म दिया। नीत्से कहता है कि लोकतंत्र वह समानता है जो मानवता को पतन की ओर ले जाती है। यह मानव-जाति को नपुंसकों की जाति बना देता है। इसका मतलब है नारीत्व—पुरुष और नारी की समानता। इसलिये इसकी निंदा करनी चाहिये। *

## नीत्से की सदाचार-कल्पना

नीत्से का यह विचार है कि समस्त वर्तमान संस्थाओं और सामाजिक परम्पराओं का मूलोच्छेदन कर उनके स्थान पर नवीन संस्थाओं की स्थापना की जाय, जिनका आधार शक्ति का सिद्धान्त हो। शक्ति ही जीवन है। इसलिये जीवन का विधान इसी आधार पर रचा जाय। जो शक्तिशाली और सुयोग्य हैं, उन्हीं को संसार में जीवित रहने का अधिकार है।

"यदि जीवन उस संघर्ष का नाम है जिसमें योग्यतम ही विजयी

---

* Will Durant : The Story of Philosophy P. 456-457.

होते हैं, तो शक्ति ही अन्तिम सद्‌गुण हुआ और दुर्बलता अन्तिम दुर्गण। जो अन्त में जीवित रहती है, वही अच्छाई है और बुराई वह है जो हार जाती है, सफल नहीं होती।"

इसलिये ईसाई सदाचार जिसमें विनय, सौम्यता, और परमार्थ की प्रशंसा की गई है, पतितों का सदाचार है। इसलिये उसका परित्याग कर देना चाहिये। इस जीवन संघर्ष में जिस चीज की जरूरत है, वह है शक्ति, विनय नहीं बल्कि गौरव; परमार्थ नहीं दृढ़ बुद्धिमत्ता। समानता और लोकतंत्र तो प्राकृतिक चुनाव के नियम तथा सबलों के विजयी होने के नियम के विरूद्ध हैं। जनता नहीं, प्रत्युत प्रतिभा हमारा लक्ष्य है। भाग्य का निर्णायक न्याय नहीं सत्ता है। दया का अर्थ है दुर्बलता। उसका परित्याग कर देना चाहिये। युद्ध जीव-विज्ञान की आवश्यकता है। भावी मनुष्य अपने साहस, निर्भयता और युद्ध-प्रेम के कारण ही विलक्षण माने जायेंगे।

## अतिमानव; मानवता नहीं

तब तक संसार में सुव्यवस्था स्थापित न हो सकेगी जब तक कि मानव, शक्ति और स्वाम्य की भावना का सम्यक् रीति से विकास न करेंगे। हमारे जीवन में दया, उदारता, क्षमा, त्याग और सहानुभूति का कोई स्थान न होना चाहिये। मानवता की सच्ची परख है ओज, शक्ति और योग्यता। संसार महान् और शक्तिमानों के लिये सुरक्षित बनाया जाय।

मानव प्रयास का लक्ष्य है शक्तिशाली और महान् व्यक्तियों का विकास—समूचे मानवों की उन्नति नहीं है। अतिमानवता ही लक्ष्य है मानवता नहीं। मानवता का विचार करना या उसके सुधार का प्रयत्न करना मूर्खता की पराकाष्ठा है, मानवता का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। यह तो एक प्रकार की कल्पना भर है। इसलिये हमारा प्रयास तो यह

होना चाहिये कि एक नवीन 'टाइप' के मानवों की उत्पत्ति हो—अतिमानवों की। उसका जीवन सिद्धान्त होगा शासन करना, शासित होना नहीं। उसका लक्षण होगा संघर्ष या खतरे से प्रेम, शक्ति, बुद्धि और अहंकार—ये ही अतिमानव के गुण हैं।

नीत्से का यह कथन है कि जो धर्म, सदाचार, शास्त्र या दर्शन इस प्रकार के अतिमानवों के विकास में बाधक हैं, उनका समूल नाश कर देना चाहिये। ईसाई धर्म इस मार्ग में बड़ा बाधक है। लोकतंत्र भी समस्त मानवों को समान मानकर श्रेष्ठता और प्रतिभा को ठुकराता है, इसलिये उसका भी नाश कर दिया जाय। १

## शक्ति-सिद्धान्त की आलोचना

नीत्से के शक्ति-सिद्धान्त की आलोचना करने से पूर्व हम यह उल्लेख कर देना चाहते हैं कि यह सिद्धान्त सदाचार का न कोई आदर्श है और न नीत्से का सदाचार में विश्वास था। वह तो इस संसार को सदाचार के लिये उपयुक्त ही नहीं मानता। हमने इस सिद्धान्त पर यहां इसीलिये विचार किया है कि जब सदाचार पर विचार किया जाता है, तब नीत्से के दर्शन-शास्त्र का भी विचारक उल्लेख करते हैं। परन्तु हमारी यह स्पष्ट राय है कि वह सदाचार का विरोध ही है। नीत्से ने स्वयं सदाचार और उसके गुणों का विरोध किया है।

वह न केवल सदाचार अथवा सद्गुणों की खिल्ली उड़ाता है, प्रत्युत मानवता की सत्ता को स्वीकार करने से भी इन्कार करता है। यह उसके अहंभाव की चरम सीमा है। वह अपने अतिमानव की कल्पना के चित्र को पूरा करने में लोकतंत्र, ईसाई धर्म, सदाचार और मानवता इन सबों को खोटी खरी सुनाकर अपने कल्पित मत की स्थापना करता है।

---

१. हिटलर के नात्सीवाद को नीत्से के दर्शन शास्त्र से ही मूल प्रेरणा मिली थी।

नीत्से का शक्ति-सिद्धान्त निरा 'पाशविकता' का सिद्धान्त है। उसमें नैतिकता का तो एक शतांश भी नहीं है। यह उसकी विकासवादी नीतिमत्ता का परिणाम है।

दया, उदारता, सहानुभूति, विश्व-प्रेम, त्याग, बलिदान, विजय आदि श्रेष्ठ मानवीय गुणों को 'दासों का सदाचार' कहना मानवता का अपमान करना है और है अपनी हेयता का ढिंढोरा पीटना।

यह हम स्वीकार करते हैं कि जीवन में जहां उपरोक्त मानवीय सद्-गुणों की आवश्यकता है, वहां शक्ति, बल, उत्साह, साहस वीरता, पराक्रम आदि गुणों की भी बड़ी आवश्यकता है। परन्तु हम यह कदापि मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि मनुष्य या किसी भी मानव जाति को इन गुणों का विकास अपने देश-बन्धुओं अथवा संसार के मानवों को दास बनाने, उन्हें पराजित करने या गुलामी में रखने के लिये करना चाहिये।

मानव-समाज के कल्याण और मानवों के उत्कर्ष के लिये ही साहस, त्याग और बलिदान आदि गुणों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

हम यह मानते हैं कि पशु-जगत में छोटा जीव बड़े जीव का भोजन बनता है; जो दुर्बल जीव है, वह सबल का खाद्य है। उनमें न विवेक है और न नैतिकता। इस लिये पशु ऐसा आचरण करें तो कोई अस्वा-भाविकता नहीं है। परन्तु मनुष्य को बुद्धि मिली है; वह विवेकशील है। अतः वह नैतिकता के नियमों का विकास करने की क्षमता रखता है। इसलिये यदि वह मनुष्य बनकर नैतिकता की उपेक्षा करता है, तो उसमें और पशु में अन्तर ही क्या रह जाता है। शक्ति का सिद्धान्त जंगल का नियम है। जंगल में ही इसका पालन सम्भव है। परन्तु जहां विवेक है, वहां तो शक्ति के स्थान में प्रेम का राज्य ही मनुष्य के लिये गौरवपूर्ण है।

जर्मन विचारक नीत्से के इस दर्शन-शास्त्र का आधुनिक नाज़ी

द्वारा जो तृप्ति होती है, जो सुख मिलता है, वह भी क्षणभंगुर होता है।

आनन्द का अर्थ है जीवात्मा का जन्म मरण के बंधन से मुक्त होना। इस मुक्ति की प्राप्ति में मन ही विशेष रूप से बाधक बनता है। इसलिये जब इन्द्रियों के संचालक मन पर आत्मा अपना नियंत्रण करता है, तभी वह आनन्द के पथ पर अग्रसर होता है। दूसरे शब्दों में जब इन्द्रियां बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं, तब मन को शान्ति मिलती है। इसलिये इन्द्रियों द्वारा क्षणिक सुख वास्तविक आनन्द का बाधक है। वास्तविक आनन्द तो मानव-जीवन के दुःखों की अन्तिम निवृत्ति से ही प्राप्त हो सकता है। लोक में हम यह देखते हैं कि कोई भी मनुष्य न पूर्ण सुखी है और न पूर्ण दुःखी। जीवन में सुख-दुःख का अद्भुत सम्मिश्रण है और दुःख भी अनेक प्रकार के हैं। फिर जो एक के लिये दुःख है, वही दूसरे के लिये सुख है।

## दुःख की मीमांसा

हम संसार में अनेक प्रकार के दुःखों को देखते हैं। इन सबों का वर्गीकरण निम्नलिखित वर्गों में किया जासकता है:—

( १ ) आध्यात्मिक दुःख — मृत्यु तथा अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःखों के कारण आत्मिक वेदना।

( २ ) मानसिक दुःख—ईर्ष्या, क्रोध, चिन्ता, काम, लोभ, आदि।

( ३ ) शारीरिक दुःख—हजारों प्रकार के रोग, पीड़ाएं, ज्वर, शरीर के अंगों की विकृति, भूखों मरना, वस्त्रों का अभाव तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव।

( ४ ) आधिभौतिक दुःख—जो एक प्राणी द्वारा दूसरे को होते हैं; हत्या, वध, चोट पहुंचाना, राज्य द्वारा दण्ड आदि।

( ५ ) आधिदैविक दुःख— जो प्राकृतिक शक्तियो द्वारा दुःख होते हैं; जैसे जल-प्लावन, बाढ़, ज्वालामुखी, भूकम्प, बिजली

का प्रकोप, अनावृष्टि आदि के कारण दुःख।

मानव-जीवन की रचना कुछ ऐसे ढंग से की गई है कि उसमें सुख दुःख का सम्मिश्रण सदैव रहता है और कभी कभी तो दुःख से ही सुख पैदा होता है, ऐसा प्रतीत होने लगता है। माता को प्रसव-काल में अत्यन्त वेदना होती है, घोर दुःख होता है परन्तु उसके बाद जब प्रसव-क्रिया समाप्त हो जाती है, तब वह अपने शिशु के मनोमुग्धकारी चेहरे को देख प्रफुल्लित हो जाती है, उसके हृदय की कली खिल जाती है। शैल शिखर पर चढ़ाई में बड़ा दुःख होता है, परन्तु जब शिखर पर पहुँच प्राकृतिक छटा का सौन्दर्य देख आनन्द-मग्न हो जाते हैं, तब कितनी हार्दिक प्रसन्नता होती है। एक डाक्टर रोगी का 'ऑपरेशन' करता है। उसे दुःख अनुभव होता है, परन्तु जब ऑपरेशन सफल हो जाता है तब उसे कितना सुख मिलता है।

दुःख मनुष्य को पुरुषार्थी भी बनाता है। मनुष्य को जब भोजन व वस्त्र का अभाव दुःख देने लगता है; तब वह उद्योगी बनने की चेष्टा करता है और इस प्रकार दुःख के निवारण के लिये प्रेरणा पाता है। जो आज संसार में धनी हैं, लक्ष्मी के महान् उपासक हैं, यदि उनके या उनके पूर्वजों के इतिहास को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पहले वे निपट दरिद्र थे; खाने भर के लिये भी उनके पास कुछ न था; परन्तु उद्योग करके दुःख से प्रेरणा पाकर ही वे आज सुखी हैं।

शायद सुख और आनन्द की इतनी महत्ता इसीलिये है कि वे नाना प्रकार के दुःख उठाने, कष्ट सहने और तपस्या करने के बाद ही प्राप्त होते हैं।

आस्तिकवाद के लेखक श्री फ्लिण्ट ने अपने ग्रन्थ में लिखा है, "दुःख आत्मा के परिशोधन और शिक्षण में परम सहायक है। दुःख से हृदय की कठोरता कम हो जाती है, दुःख से अभिमान का दमन होता है, दुःख से साहस और धैर्य्य बढ़ता है, दुःख से सहानुभूति का ही

आधिक्य होता है; दुःख से धर्म में श्रद्धा होती है। सारांश यह है कि इससे सम्पूर्ण मानवी प्रकृति परिष्कृत, सुदृढ़ और उच्चतम हो जाती है। ..........'मनुष्य जाति के रत्नों ने अपने जीवन के अनुभव से यह सीखा है कि दुःख बुरा नहीं है, प्रत्युत एक विशेषाधिकार है। अमर यश की प्राप्ति का एकमात्र साधन यही है कि दुःखों के पवित्र और उन्नत करने वाले प्रभावों से मनुष्य लाभ उठाता हुआ उनमें से निकलने का प्रयत्न करे।" *

दुःखों की अन्तःप्रकृति पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें हमें सुख के बीज मिलेंगे। इसका थोड़ा विवेचन ऊपर दिया जा चुका है। दुःखों का आविर्भाव मनुष्य स्वयं करता है। दुःख एक प्रकार से नियमों के उल्लंघन के लिये दण्ड ही हैं। आध्यात्मिक विधान की उपेक्षा कर हम आत्मिक अशान्ति का अनुभव करते हैं, हमें मानसिक पीड़ा होती है और चिन्तामय बने रहते हैं।

स्वास्थ्य-विज्ञान के अज्ञान के कारण हम स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना करते हैं, फलतः हमें शारीरिक कष्ट और दुःख भोगने पड़ते हैं। सामाजिक विधान की अवज्ञा करने के कारण ही संसार में लोग भूखों मरते हैं और शीत-ग्रीष्म से अपनी रक्षा के लिये न पर्याप्त वस्त्र प्राप्त करते हैं और न विश्राम के लिये गृह। मनुष्यों ने सामाजिक विधान का उल्लंघन कर समाज का संगठन ऐसे ढंग से किया है जिसमें गरीबी, बेकारी और वस्त्र-भोजन-सम्बन्धी अभाव का दुःख पैदा होना अनिवार्य है। हम राज्य-विधान का उल्लघन करते हैं और फलतः न्यायालय की ओर से दण्डित होते हैं। हम मानव-समाज के कल्याण की अवहेलना करते हैं, फलतः युद्धों का जन्म होता है और अन्त में उनके कारण सारा मानव-समाज दुःखी होता है।

ये सब अज्ञान और मानवी स्वार्थ-वृत्ति के कारण ही हैं। यदि

* Flint : Theism P .250

मनुष्य ज्ञान के प्रकाश में अपनी स्वार्थ-वृत्ति का दमन कर परमार्थ-वृत्ति को व्यक्तिगत और समूहिक जीवन में चरितार्थ करे, तो हमारे बहुत से दुःखों का अन्त हो जाय।

## आनन्द या मुक्ति

उपर्युक्त दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति पाना ही मुक्ति या आनन्द है। थोड़ी बहुत निवृत्ति तो मनुष्य पा ही लेता है। परन्तु उससे उसे सच्ची आत्मिक शान्ति नहीं मिलती। आत्मिक शान्ति तो मुक्ति में ही मिलती है। बंधन में जीवात्मा को चाहे जितना सुख मिले, चाहे जितने सुखों की प्राप्ति हो, परन्तु उससे सच्ची शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। एक पिंजर-बद्ध कोयल को आप चाहे जितने आराम से रखें, उसे उत्तमोत्तम फल खाने को दें, सुन्दर वाटिका में भी रखें और उसे अनुकूल वातावरण में भी रखें; परन्तु उसे बन्धन में सच्चा सुख नहीं मिलता। जैसा सुख उसे मुक्त होकर वन में विचरने से मिलता है, वैसा पिंजड़े में कहां। इसलिये वह पिंजड़े से उड़ने के लिये सदैव अवसर की तलाश में रहती है।

महात्मा गांधी को राजबन्दी बनाकर आगाखां-राजमहल में रखा गया। वहां उनके आराम की पूरी व्यवस्था की गई। कस्तूर बा और मीरा बहिन भी उनके निकट थीं; उनके मंत्री प्यारेलाल भी उनके साथ थे। भोजन तथा जलपान की अच्छी व्यवस्था थी; उन्हें बकरी का दूध भी प्राप्य था। प्रातः ईश्वर-विनय और शाम को टहलने का भी प्रबन्ध था। भारत के १३-१४ समाचार-पत्र भी उनके पास पढ़ने को भेजे जाते थे। परन्तु उन्हें अपने विचार-प्रकाशन का अधिकार नहीं था और न वे अपनी इच्छानुसार किसी से मिल सकते या कोई कार्य कर सकते थे। इन सब सुविधाओं के बावजूद भी वे बन्दी थे और उनकी इच्छा बन्धन-मुक्त होने की थी। विगत फरवरी में उन्होंने उपवास भी इसी

लक्ष्य से किया था। वह मुक्ति की इच्छा करते थे।

इन दो उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जब मनुष्य या पक्षी सुखों का भोग करते हुए भी मुक्ति चाहता है—बन्धन तोड़ना चाहता है, तब क्या आत्मा इस जन्म-मरण के बन्धन को पसन्द करेगी? उत्तर स्पष्ट है— नहीं। अतः जीवात्मा भी इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिये प्रयत्न करता है।

जैसे पिंजरबद्ध पक्षी को उन्मुक्त हो जाने पर आनन्द अनुभव होता है, जैसे एक राजबन्दी को कारागार से मुक्त हो जाने पर स्वतंत्र वातावरण में सांस लेने से शान्ति मिलती है, वैसे ही जीवात्मा को भी मुक्ति में एक अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव होता है।

मुक्ति का वास्तविक स्वरूप क्या है? मुक्ति कब होती है? मुक्ति में क्या जीव और ईश्वर एक हो जाते हैं? क्या मुक्ति सदैव के लिये होती है अथवा काल-विशेष के लिये? मुक्ति में केवल विशुद्ध संकल्प जाते हैं या जीवात्मा के साथ सूक्ष्म और कारण शरीर भी? मुक्ति का आनन्द कैसा है आदि बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। परन्तु इनका सम्बन्ध आध्यात्म्-विज्ञान से है। इसलिये हम इस विषय पर इस प्रसंग में विचार करना उचित नहीं समझते।

## क्या मृत्यु दुःखप्रद है?

महाभारत में एक बड़ा ही मनोरंजक प्रश्न उठाया गया है। वह यह है कि "इस संसार में सब से आश्चर्यजनक वस्तु क्या है?" अनेक महापुरुषों ने इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया। परन्तु उनसे सन्तोष नहीं हुआ। धर्मराज युधिष्ठिर ने भी इसका उत्तर दिया और उससे सन्तोष होगया। वह उत्तर इस प्रकार है—"प्रति दिन मनुष्य और पशु-पक्षी मरते हैं, परन्तु हम मृत्यु का विचार भी नहीं करते; हम यह सोचते हैं कि हमें कभी मृत्यु प्राप्त न होगी। इससे अधिक आश्चर्यपूर्ण और

क्या बात हो सकती है ?"

आज से हजारों वर्ष पूर्व युधिष्ठिर ने यह कहा था; परन्तु आज भी यह उतना ही सत्य है। संसार की दो अरब जनसंख्या है। इसमें से प्रति दिन चार करोड़ स्त्री-पुरुष और बालक मर जाते हैं; दस लाख टन मनुष्य का मांस, अस्थि और रक्त इस प्रकार व्यर्थ वस्तु की तरह फेंक दिया जाता है। विगत विश्व-युद्ध में प्रति दिन लाखों व्यक्ति मरे। परन्तु हम एक क्षण के लिये भी यह नहीं सोचते कि हम भी मरेंगे। हमारे विचारक, दार्शनिक और धर्माचार्य भी इस विषय पर विचार नहीं करते। वास्तव में मृत्यु एक रहस्य बनी हुई है।

यूरोप और अमेरिका के भौतिकवादी वैज्ञानिकों ने मृत्यु का रहस्य जानने के लिये काफ़ी प्रयत्न किया है। परन्तु उनका विज्ञान भी अभी इस पहेली का हल करने में अशक्त रहा है।

वैज्ञानिकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब क्या उसकी मृत्यु के साथ ही उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग भी मर जाते हैं ? वैज्ञानिक इसका जवाब देते हैं कि, मृत्यु के बाद या चेतना की मृत्यु के बाद तुरन्त ही अंग-प्रत्यंग नहीं मर जाते। यदि एक मुर्गी का सिर काट डाला जाय और उसके हृदय को निकालकर देखा जाय, तो वह काफी लम्बे समय तक अपना कार्य करता देख पड़ेगा। अमेरिका की रॉकफैलर इन्स्टीट्यूट में एक मुर्गी का हृदय करीब ८ साल से जीवित अवस्था में रखा हुआ है और वह अपना कार्य बराबर कर रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर के अंगों का जीवन व्यक्ति की चेतना पर निर्भर नहीं है। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शरीर के कोष्ठ भी मनुष्य की मृत्यु के साथ निर्जीव या चेतनाहीन नहीं हो जाते। वे अपना कार्य करते रहते हैं।

आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि मृत्यु दो प्रकार की होती है; एक चेतनामय जीवन की मृत्यु और दूसरी शारीरिक अवयवों की

मृत्यु।

एक प्रकार की मृत्यु दूसरे प्रकार की मृत्यु पर निर्भर नहीं होती। परन्तु भौतिक विज्ञान यह सिद्ध नहीं करता कि शरीर के अंग, प्रत्यंग और कोष्ठ कैसे मृत्यु के बाद भी अपना कार्य करते रहते हैं? क्योंकि वे प्रकृति के सिवा आत्मा की सत्ता को तो मानते ही नहीं हैं। उनका यह कथन है कि मानव-चेतना या जीवन अणु-परमाणुओं की रासायनिक क्रिया का प्रतिफल है।

इस प्रकार भौतिक विज्ञान हमें मृत्यु का वास्तविक रहस्य नहीं बतलाता। परन्तु फिर भी वह मृत्यु के कारणों और लक्षणों की खोज में लगा रहता है। वैज्ञानिकों के परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि मृत्यु के लक्षण वे नहीं हैं जो आम तौर से समझे जाते हैं, जैसे हृदय की गति का अवरोध, सांस का अवरोध या नाड़ी की गति का अवरोध। क्योंकि ऐसे सैकड़ों मामले देखे गये हैं जिनमें कि हृदय, नाड़ी की गति अथवा सास के रुक जाने के बाद भी मनुष्य कुछ देर तक जीवित ही नहीं रहे, प्रत्युत स्वस्थ हो गये। ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं कि ४८ घंटे तक हृदय-गति बन्द रही और लोग अच्छे होगये। इसलिये मृत्यु का वास्तविक लक्षण क्या है, यह कहना कठिन है। विज्ञान तो इस निर्णय पर पहुंचा है कि जब शरीर से दुर्गन्ध आने लगे, उसमें सडाद की गंध आने लगे, तब समझा जाय कि मनुष्य मर गया। इसी कारण यूरोप के अनेक देशों में यह कानून है कि मृत्यु के बाद तुरन्त ही शव को दफ़नाया न जाय।

एक दूसरे प्रकार के वैज्ञानिक हैं, जो पहले वैज्ञानिकों से कुछ बढ़े-चढ़े हैं। उनकी सम्मति में 'मन' ही मनुष्य की मृत्यु और रोगों का कारण है। वे मन की सत्ता को स्वीकार करते हैं और वे उसे अणु-परमाणुओं की रासायनिक प्रतिक्रिया का फल नहीं मानते। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि मन और चेतना का स्रोत अविनाशी है।

इसी प्रकार 'जीवन' भी अविनाशी है। वे यह मानते हैं कि 'जीवन' का नाश नहीं होता। उनके विचार से मन के ऐसे अनेक भाव हैं जो मनुष्य के रोगों और मृत्यु के कारण हैं।

डा० जॉन हंटर एक बड़ा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक था। वह बड़ा विचित्र व्यक्ति था। वह मन की सत्ता में विश्वास करता था, परन्तु अपने मनोभावों पर उसका नियंत्रण नहीं था।

एक बार एक थोड़ी-सी उत्तेजना से वह क्रोधित हो गया और उस अतिक्रोध के कारण उसकी मृत्यु हो गई। ऐसे कई प्रमाण हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि क्रोध मनुष्य को तत्क्षण मार डालता है। फ्रेन्च चिकित्सक टौरटेले ने दो स्त्रियों को अतिशय क्रोध के कारण स्वयं मरते देखा। अतिशय क्रोध हृदय-गति को रोक देता है और शरीर में विष पैदा कर देता है। जब अतिशय क्रोध मृत्यु का कारण है, तब सामान्य क्रोध मनुष्य के अनेक रोगों का कारण होता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अतिशय भय के कारण लोगों की मृत्यु हो जाती है। शोक और घृणा के कारण भी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार ये वैज्ञानिक मन की अद्भुत शक्तियों में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार मन ही दुःखों और मृत्यु का कारण है। वे यह भी मानते हैं कि शरीर में जो चेतन-शक्ति है, वह जब शरीर से विलग हो जाती है, तब मृत्यु होती है।

वैदिक सिद्धान्त यह है कि मृत्यु शरीर से जीवात्मा के पृथक हो जाने का नाम है। जब तक जीव शरीर में रहता है, तब तक चाहे नाड़ी की गति भले ही बन्द हो जाय, मनुष्य की मृत्यु नहीं होती। जीवात्मा के शरीर से अलग हो जाने पर ही मृत्यु होती है।

जब जीवात्मा शरीर से पृथक होता है, तब उसके साथ सूक्ष्म और कारण शरीर ये दोनों जाते हैं। स्थूल शरीर ही शव-रूप में रह जाता है।

जीवात्मा अजर, अमर और नित्य तथा अविनाशी है। इसलिये उसका नाश तो कभी सम्भव नहीं। जब शरीर जीवात्मा के योग्य नहीं रहता, तब वह वस्त्रों की तरह बदल देता है और मृत्यु इसमें उसे योग देती है। गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है :—

"जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर का त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है।" *

ऐसी दशा में जीवात्मा या मनुष्य को दुःख क्यों होना चाहिये? मृत्यु वास्तव में एक परिवर्तन है। इसलिये वह दुःखप्रद क्यों? दुःख तो जीवात्मा को इसलिये होता है कि उसमें वर्तमान जीवन के प्रति मोह पैदा हो जाता है। इसलिये वह मोह या ममतावश इस जीवन का त्याग करना नहीं चाहता। इस ममता के कारण ही घोर से घोर संकट में होते हुए भी मनुष्य मृत्यु के नाम से भयभीत हो जाता है। वह मृत्यु नहीं चाहता। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य स्वेच्छा से महान् से महान् संकट में अपने को डालकर मृत्यु से आलिंगन करने में भी आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु प्राणदण्ड की सजा को भोगने में अपराधी को बड़े कष्ट का अनुभव होता है। इसका कारण यह है कि पहले उदाहरण में मनुष्य अपनी इच्छा से मृत्यु का आलिंगन करता है और दूसरे में वह अपनी इच्छा के विरुद्ध फांसी के तख्ते पर चढ़ता है। इसलिये पहले व्यक्ति के लिये मृत्यु सुखप्रद और आनन्द का कारण बनती है, दूसरे के लिये दुःखप्रद। इससे यह भली प्रकार प्रमाणित है कि मृत्यु स्वयं दुःखप्रद नहीं है। वह तो मनुष्य की भावना के अनुसार ही दुःखप्रद बनती है।

---

* गीता अध्याय २, २२

## चौदहवां अध्याय

# व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है— इस विषय पर विद्वानों में प्रत्येक युग में परस्पर मतभेद रहा है। एक ही युग के विद्वानों के विचार इस सम्बन्ध में बहुत ही भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि इस विषय पर किसी सामाजिक अथवा राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि या खण्डन के उद्देश्य से ही विचार किया जाता है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को वास्तविक रूप में समझने का प्रयत्न बहुत ही कम विद्वानों ने किया है। हमें इस अध्याय में यह विचार करना है कि आचार-शास्त्र की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध कैसा होना चाहिये।

## क्या मानव-समाज यंत्रवत् है ?

कुछेक विचारकों का यह मत है कि समाज व्यक्तियों के समूह का नाम है जो यंत्र के कल-पुर्जों की भांति एकत्रित कर दिये गये हैं। व्यक्तियों का वास्तव में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। सब मनुष्य समान हैं। शरीर और मन की शक्तियों में व्यक्तिगत रूप से जो भेद देख पड़ता है, वह सामूहिक रूप से कोई ऐसा भेद नहीं लगता कि जिससे एक का प्रभुत्व दूसरे पर स्थापित हो सके। पाश्चात्य विद्वान रूसो और टॉमस हॉब्स इसी के समर्थक हैं। हॉब्स तो यहां तक मानता है कि सब मनुष्यों की बुद्धि भी समान है। बुद्धि क्या है ? यह एक प्रकार का अनुभव है

जो सभी को होता है। मनुष्य में इस समानता का ही यह परिणाम है कि दो व्यक्ति एक ही वस्तु को हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं और इस कार्य में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि एक दूसरे के शत्रु भी बन जाते हैं और परस्पर एक दूसरे का विनाश करने को सन्नद्ध हो जाते हैं। हॉब्स और रूसो का यह विचार है कि मनुष्य पहले प्राकृतिक अवस्था में थे। वे स्वतंत्र और स्वच्छन्द थे। उनमें एकमात्र व्यवस्था शक्ति और बल-प्रयोग की थी। सर्वत्र मत्स्य-न्याय प्रचलित था।

इस प्रकार मनुष्य बराबर लड़ते-झगड़ते रहते थे। वे तीन कारणों से इस तरह झगड़ा करते थे। वे प्रतिस्पर्द्धा, अविश्वास और गौरव के लिये ही ऐसा करते थे। इस प्रकार की अवस्था से लोग तंग आगये और उन्होंने शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिये परस्पर समझौता किया। इस प्रकार समझौते के द्वारा व्यक्ति समाज के अंग उसी प्रकार बन गये जिस प्रकार कि अलग अलग कल-पुर्जों को एकत्रित कर यंत्र बना दिया जाता है।

रूसो और हॉब्स की यह समाज-कल्पना मानव-विज्ञान पर विचार करने के बाद असत्य ही सिद्ध होती है। समाज की रचना इस प्रकार हुई— यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत मनुष्य सामाजिक प्राणी है। आप किसी भी युग में उसे असामाजिक दशा में नहीं पा सकते। व्यक्ति परिवार का एक अभिन्न अंग है। परिवार से प्रथम उसकी आप कल्पना ही नहीं कर सकते।

समाज की यंत्र से तुलना भी उपयुक्त नहीं है। समाज व्यक्तियों के सुनियोजित संघटन का नाम है; परन्तु वह संघटन कल-पुर्जों के समान नहीं है जिसमें उनकी सत्ता 'यंत्र' में विलीन हो जाती है। समाज में व्यक्तियों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र होता है; वह समाज में विलीन नहीं हो जाता।

## क्या समाज एक शारीरिक-संघटन है ?

विकासवादी विचारक यह समझते हैं कि व्यक्तियों का समाज के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि शरीर के अंग-प्रत्यंगों का शरीर से। हरबर्ट स्पेंसर और स्टीफ़न इस विचार के समर्थक हैं। व्यक्ति परस्पर स्वतंत्र नहीं हैं, प्रत्युत उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्तियों के बिना समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वे पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही विकसित होते हैं। उनके मनोभाव, विचार, अभ्यास, संस्कार, शिक्षा, भाषा और सदाचार आदि सब समाज के कारण ही हैं। समाज में वे जन्म पाते हैं, पोषण पाते हैं और इसी में उन्हें शान्ति और सुख मिलता है।

इस विचारधारा में इतना तो सत्यांश है ही कि समाज में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि शरीर में अवयवों का है। समाज का विकास भी शारीरिक विकास की भांति ही होता है।

परन्तु शरीर संघटन और समाज-संघटन इन दोनों में भौतिक अन्तर है। शरीर में अंग-प्रत्यंग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। परन्तु समाज में व्यक्ति अपना व्यक्तित्व रखते हैं। दुःख-सुख की अनुभूति व्यक्ति ही करते हैं— समाज नहीं। समाज में व्यक्तियों से पृथक कोई चेतना नहीं है। शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु समाज नष्ट नहीं होता।

## समाज की आदर्शात्मक कल्पना

इस मत के अनुसार समाज स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक संघटन है। यह संघटन सोद्देश्य है। मनुष्यों में जो सहानुभूति की भावना है, उसी के विकास का फल सामाजिक-संघटन है। मनुष्य स्वार्थी है, वह 'स्व' की तृप्ति के लिये सब कुछ करता है, परन्तु उसमें सामाजिक भावना भी है। यदि यह भावना न होती, तो वह संसार में समाजोपयोगी कार्य न करता। श्री मैकेञ्जी का यह कथन है, "मानव व्यक्तित्व कोई एकान्त

घटना नहीं है। दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्धों से विलग उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानव के नैतिक जीवन का सार-तत्व इन सम्बन्धों पर ही निर्भर है। मानव का समूचा नैतिक जीवन, उसके उद्देश्य और मूल्य उन आदर्शों, संस्थाओं और नैतिक अभ्यासों से अपना रूप-रंग प्राप्त करते हैं जिनके बीच उसके जीवन का विकास होता है।" *

## सामाजिक और नैतिक संस्थाएं

मानव-समाज का सर्वोत्कृष्ट हित है मानव का कल्याण। मनुष्य का कल्याण व्यक्तिगत रूप से सम्भव नहीं। उसके लिये समाज और सामाजिक प्रयास की उपेक्षा होती है। अतः मानव-कल्याण के लिये जिस संघटन की आवश्यकता होती है उसे नैतिक या सामाजिक संघटन कहते हैं। समस्त सामाजिक संस्थाओं का निर्माण मानव-कल्याण के लिये किया गया है। ये संस्थाएं निम्न लिखित हैं :—

## परिवार

परिवार स्वाभाविक प्रेम के आधार पर टिका हुआ है। उसका मुख्य प्रयोजन है शैशव-काल में बाल-बालिकाओं का भरण-पोषण। परन्तु साथ ही साथ परिवार प्रेम, सहानुभूति, भ्रातृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम और मानव-प्रेम की आरम्भिक शिक्षा प्रदान करता है। परिवार मानव शिक्षण की प्रारम्भिक पाठशाला है। परिवार का मूलाधार है दाम्पत्य-सम्बन्ध। विवाह इसकी आधार-शिला है। इसलिये समाज संघटन में विवाह का बड़ा महत्व है। यदि पुरुष-स्त्री के वैवाहिक-सम्बन्ध की पवित्रता और स्थायित्व को नष्ट कर दिया जाय तो परिवार का विनाश हो जायगा और परिवार के विनाश का समाज पर प्रभाव पड़ेगा और फलतः समाज का ढांचा अस्त-व्यस्त हो जायगा और

---

* Mackenzie: Manual of Ethics P. 171-72.

मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का विकास न हो सकेगा। अतः परिवार समाज और सस्कृति का आधार-स्तम्भ है।

## सांस्कृतिक संस्थाएं

मानव चरित्र के निर्माण तथा समाज के कल्याण में हमारी सांस्कृतिक और शिक्षा-संस्थाओं का भी विशेष महत्व है। इन संस्थाओं में ही मानव-चरित्र का विकास समुचित रीति से सम्भव है। ये संस्थाएं मानव को जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करती हैं। ये मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास ऐसे ढंग से करती हैं कि उसमें सामाजिक भावना का विकास भी होने लगता है। उसमें अपने पड़ौसियों, नगर या ग्रामवासियों, तथा अपने देशवासियों के प्रति कर्तव्य-भावना का बोध पैदा होता है। उसके नैतिक-जीवन का विकास भी इन्हीं संस्थाओं में होता है। प्राथमिक पाठशाला, उच्च पाठशाला, विद्यालय, विश्वविद्यालय, साहित्य-परिषद्, कला परिषद्, संगीत-परिषद्, नाट्य-परिषद्, कवि-सम्मेलन आदि सांस्कृतिक संस्थाएं हैं।

## औद्योगिक संगठन

प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में मानव-जीवन में उद्योग-व्यवसायों का एक प्रधान स्थान रहा है। आरम्भ-काल में उद्योग-व्यवसाय आधुनिक उद्योगों की तरह केन्द्रित नहीं थे, बल्कि कुटीर-शिल्प के रूप में ही उद्योग प्रचलित थे। बहुत ही कम उद्योग विशाल उद्योग थे। इसलिये उस काल में स्वामी-श्रमिक जैसे सम्बन्ध नहीं थे। सब लोग स्वतंत्र व्यवसाय करते थे।

परन्तु धीरे धीरे उद्योग-धन्धों में जब विकास होने लगा, तब व्यवसायी लोग अपने यहां मजदूरों को रखकर अपना काम चलाने लगे। प्रतियोगिता की भावना पैदा हो गई। और जब यंत्रों का आविष्कार हो गया, तब तो स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया। वर्तमान

समय में उद्योग-धन्धों में स्वामी और श्रमिकों के सम्बन्ध समझौते के आधार पर हैं। अनेक देशों में श्रमिकों की दशा बड़ी शोचनीय है। प्रायः सभी पूंजीवादी देशों में पूंजीपति श्रमिकों का शोषण कर रहे हैं। उनकी स्थिति में सुधार के लिये थोड़ा-बहुत प्रयास होता रहता है, परन्तु उससे उनकी दशा में कोई स्थायी सुधार नहीं होता और इसके परिणाम-स्वरूप वे समय समय पर हड़तालें करते रहते हैं, जिससे स्वामी उनकी मागों को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जायें। स्वामी और श्रमिकों के सम्बन्धों में मानवता के सिद्धान्तों को स्थान मिलना चाहिये।

कृषि भी एक व्यवसाय है। उसका कार्य करने वाले कृषकों की दशा भी श्रमिकों जैसी ही है। हमारे देश में जमींदारी-प्रथा प्रचलित है। ‡ ज़मीन के मालिक किसान नहीं, जमींदार हैं और वे किसानों को ज़मीन जोतने के लिये देते हैं, उसका उनसे लगान वसूल करते हैं। प्राचीन काल में भारत में आजकल जैसी जमींदारी-प्रथा नहीं थी। सब कृषक अपनी जमीन के मालिक थे।

## धार्मिक संस्थाएं

मानव जीवन में धर्म और धार्मिक संस्थाओं का भी बड़ा महत्व है। परन्तु संसार में मानव धर्म का कहीं भी पालन नहीं किया जारहा है। धर्म के नाम पर अनेक मत मतान्तर और संस्थाएं जगत में प्रचलित हैं जो मनुष्य को स्वर्ग का सीधे से सीधा मार्ग बतलाने के लिये विज्ञापन कर रही हैं। धर्म ने जब से 'संस्था' का रूप ग्रहण किया तब से ही उसका धर्म के ठेकेदारों ने दुरुपयोग किया। परिणामतः शिक्षित और आधुनिक विचार की जनता ने धर्म को नमस्कार कर दिया।

---

‡ भारत में कई प्रान्तों की लोकप्रिय सरकारों ने जमींदारी-प्रथा के विनाश के लिये कानून बनाये हैं; परन्तु उसके उपरान्त भूमि की व्यवस्था कैसे होगी, इसकी कोई योजना नहीं तैयार की है।

सोवियट रूस से धर्म के बहिष्कार का जोरदार आन्दोलन सन् १९१७ की राज्य-क्रान्ति के बाद किया गया। अन्य देशों में भी धर्म-संस्थाओं से जनता की श्रद्धा हट गई। भारत में भी यही अवस्था है। धर्म मानव को मानव से मिलाने के बजाय मानव और मानव के बीच भेदभाव की खाई पैदा कर रहा है। उसके नाम पर अनाचार, अत्याचार और पापाचार हो रहे हैं। वह हमारे जीवन में—राष्ट्रीय-जीवन में विष पैदा कर रहा है।

इसलिये मानव-जीवन में सदाचार की प्रतिष्ठा करने के लिये ऐसे मानव-धर्म की आवश्यकता है जो अखिल विश्व में प्रेम, सहानुभूति, बन्धुत्व और मानव-कल्याण का सच्चा मार्ग दिखला सके।

## राज्य

मानव-समाज में राज्य का अद्वितीय स्थान है। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता जारहा है, राज्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जारहा है। राज्य हमारे सामूहिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना अधिकार और प्रभाव रखता है— हमारी समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति, नागरिक जीवन, आर्थिक जीवन, नैतिक जीवन, सांस्कृतिक जीवन, उद्योग-धन्धे, शिक्षा, स्वास्थ्य, युद्ध-विग्रह आदि पर राज्य का प्रभाव है, राज्य का प्रभुत्व है।

आज मानव जीवन के लिये प्रायः सभी उपयोगी कार्यों की व्यवस्था एवं नियंत्रण राज्य के हाथ में है। इस प्रकार राज्य ने हमारे जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है कि उसका विनाश असम्भव ही है। मानव अपनी नैतिक और सामाजिक उन्नति सुसंघटित और सुव्यवस्थित राज्य में ही कर सकते हैं। †

---

† हम अपने भोजन, वस्त्र, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षा आदि के लिये राज्य-व्यवस्था पर ही निर्भर हैं, विशेषकर १९४२ से।

पंद्रहवां अध्याय

# राज्य और सदाचार

## समाज और राज्य

यह तो सर्वमान्य है कि मानव सामाजिक प्राणी है। समाज में वह जन्म पाकर विकास और वृद्धि प्राप्त करता है। उसके समस्त नैतिक गुणों का विकास भी समाज में ही सम्भव होता है। समाज से विलग उसके नैतिक विकास की कल्पना सम्भव नहीं। नीति-अनीति और सदाचार-दुराचार के प्रश्न सामाजिक हैं; उनकी उत्पत्ति समाज में ही होती है। इस प्रकार समाज—सुसंघटित समाज का अस्तित्व सामाजिक और नैतिक अभ्युदय के लिये अत्यन्त आवश्यक है। सम्पूर्ण सामाजिक संघटन का नाम समाज है; लेकिन उसके राजनीतिक संघटन का नाम राज्य है। राज्य का देश की राजनीति से सम्बन्ध है। आधुनिक समय में राज्य के अधिकारों एवं कार्यों में अत्यधिक विस्तार होगया है।

## राज्य और व्यक्ति

व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं, इसके विषय में अनेक 'वाद' प्रचलित हैं; परन्तु हम उन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। एक समाजवाद और दूसरा व्यक्तिवाद। समाजवाद के अनुसार यद्यपि व्यक्ति को अपने कार्यों के करने में स्वतंत्रता है, परन्तु वह व्यक्तियों के सामूहिक हित एवं कल्याण को जरूरी मानता है;

इसलिये समाजवाद ऐसे समाज की रचना करना चाहता है—ऐसे राज्य का विकास करना चाहता है जिसमें समूचे समाज का कल्याण हो सके—कुछ विशिष्ट विशेषाधिकृत व्यक्ति-वर्गों का नहीं। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिये है। इसलिये वह व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर अधिक जोर देता है। समाज के कल्याण—समूचे लोक-कल्याण पर वह ज़ोर नहीं देता। वह व्यक्तियों के कुछ वर्गों के लिये सुख-सुविधा की व्यवस्था कर देता है और शेष वर्गों के लिये समान सुख और सुविधा प्रदान नहीं करता।

यह हमने स्पष्ट कर दिया है कि मानव-जीवन का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। आनन्द और लोक-संग्रह ही मानव-समाज का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही समाज और राज्य का विकास किया गया है। इसलिये राज्य मानव—समाज का लक्ष्य-साध्य नहीं, साधन-मात्र है। इसलिये जो राज्य को साध्य मानकर व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों का निर्णय करते हैं, वे वस्तुतः एक उलझन में अपने को डाल लेते हैं।

अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध के उपरान्त जब अमेरिकावासियों ने अमेरिका के लिये नया शासन-विधान रचा, तब सब से प्रथम बार मानव की स्वाधीनता को राज्य ने स्वीकार किया। इसके बाद फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय भी फ्रान्स में नागरिक-स्वाधीनता का अधिकार स्वीकार किया गया। परन्तु अमेरिका की घोषणा ने तो इसे असन्दिग्ध रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत किया। इस घोषणा में लिखा है :—

"हम इन सत्यों को स्वयं सिद्ध मानते हैं। सब मानव समान हैं, सृष्टिकर्ता ने उन्हें जन्म-सिद्ध अधिकार प्रदान किये हैं। इन अधिकारों में जीवन, स्वाधीनता और आनन्द-प्राप्ति के लिये प्रयास के अधिकार भी शामिल हैं; इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये ही समाज में शासनों की स्थापना की गई है; ये शासन समाज से ही अपनी सत्ता प्राप्त करते

हैं; इसलिये जब कोई शासन इन लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक बन जाता है, तो मानवों का यह अधिकार है कि उस सरकार का वह नाश कर दें, उसे पलट दें और उसके स्थान पर नयी सरकार की स्थापना करें; उसकी स्थापना ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर करें जो उनकी सम्मति में मानवों की सुरक्षा व कल्याण के लिये सब से अधिक उपयुक्त हो।"

अमेरिका की स्वाधीनता-घोषणा में यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया कि सब मानवों में समानता है; वे समान पैदा हुए हैं और उन्हें जीवन, स्वाधीनता तथा आनन्द की प्राप्ति के जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त हैं। अतः राज्य का निर्माण इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये ही हुआ है। यह विचार कि राज्य का उद्देश्य समस्त व्यक्तियों का कल्याण, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को कल्याण की प्राप्ति का अधिकार है, वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु संसार के इतिहास में इसे सिद्धान्त रूप में बहुत ही कम देशों में स्वीकार किया गया और इस पर अमल करने का तो प्रयत्न शायद ही किया गया हो।*

'सब मानव समान हैं' इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त की व्याख्या के सम्बन्ध में लोगों में चाहे जितना मतभेद क्यों न हो, परन्तु यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि सरकार का एक-मात्र लक्ष्य समान नागरिकों के समाज का सामान्य कल्याण या हित है।

अतः राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिसमें मानव समान रूप से अपनी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये समान सुयोग और सुविधाएं प्राप्त कर सकें। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में राज्य को मानवों की सहायता करनी चाहिये, उसके विकास को रोकने में बाधा डालना घातक होगा। ऐसा करना व्यक्ति और राज्य दोनों के लिये अश्रेयस्कर होगा।

---

* Leonard Woolf : After the Deluge P. 152.

## राज्य का नैतिक आधार

समाज व्यक्तियों के एक सोद्देश्य संगठन का नाम है, और राज्य समाज का एक राजनीतिक संगठन है। सरकार राज्य की एक संस्था है जो राज्य की इच्छानुसार शासन-प्रबन्ध करती है। समाज और राज्य व्यक्तियों की लोक-संग्रह की भावना पर ही स्थिर हैं। इसलिये राज्य और समाज का आधार नैतिक है। राज्य मानवों के लौकिक तथा नैतिक कल्याण के लिये ही स्थापित है। इसलिये उसकी व्यवस्था में बल-प्रयोग भी है, तो वह भी समाज के सामूहिक हित में है। समूचे समाज के कल्याण को अपना लक्ष्य मानकर जब राज्य व्यवस्था करता है और समूचे समाज से मतलब वह समस्त समान नागरिकों के हित से लेता है, तब वह सब मनुष्यों के लिये कल्याणकारी सिद्ध होता है। इसलिये जो लोग अराजकता को अपना आदर्श मानते हैं, वे इस मूल सत्य की उपेक्षा करते हैं कि मानव-समाज को व्यवस्था में रखने के लिये किसी सत्ता की आवश्यकता होती है, वह सत्ता चाहे जिस रूप में हो, तब उसे आप चाहे राज्य कहें या सरकार। ऐसे मानव-समाज की केवल कल्पना भर ही की जा सकती है जिसमें सभी लोग अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं, उन्हें किसी दण्ड या दबाव की जरूरत नहीं और इस प्रकार वे लोक-संग्रह में पूर्णतः योगदान देते हैं।

जब राज्य मानव-समाज के कल्याण के लिये है, तब उसका यह कर्तव्य है कि वह निष्पक्ष रीति से, न्यायपूर्वक अपने नागरिकों के लौकिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के लिये समान सुविधाएं व सुयोग प्रदान करे। यह राज्य की एक सब से महत्वपूर्ण समस्या है। इसी के सम्यक् समाधान पर ही समाज का कल्याण निर्भर है। उसके निम्नलिखित कर्तव्य उल्लेखनीय हैं:—

(१) राज्य को नागरिकों के कल्याण के लिये ऐसे नियमों और

कानूनों की रचना करनी चाहिये जो सर्वथा नैतिक हों।

( २ ) उसे नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिये सतर्क रहना चाहिये। उनके अधिकारों का दमन न किया जाय। ऐसे क़ानून न बनाये जायं, जो उनके मौलिक अधिकारों के भोग में बाधक हों।

( ३ ) नागरिकों के अधिकारों के सम्बन्ध में जो विवाद उपस्थित हों, उनके निर्णय के लिये न्याय-व्यवस्था होनी चाहिये। न्याय की व्यवस्था सच्चाई, ईमानदारी और न्याय की भावना के साथ की जाय। 'कानून की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं' इस सिद्धान्त का समुचित रीति से पालन किया जाय।

( ४ ) समूचे मानव-समाज के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये उचित व्यवस्था की जाय। मनुष्य के भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, सफाई, निवास-स्थान, व्यवसाय, शिक्षा आदि सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुव्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। मनुष्यों के मानसिक विकास के लिये शिक्षा-संस्थाएं, विश्व-विद्यालय, सांस्कृतिक संस्थाएं आदि स्थापित करना राज्य का ही कर्तव्य है। इनके अतिरिक्त मनुष्यों के मनोरंजन, आराम तथा सुख की व्यवस्था के लिये समस्त आवश्यक साधनों को जुटाना भी उसका एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

अन्त में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सरकार के कार्यों की परख केवलमात्र उसकी कार्य-कुशलता से नहीं करनी चाहिये। आज के यंत्र-युग में कार्य कुशलता की वेदी पर सर्वोत्कृष्ट नैतिक आदर्शों और मानवीय गुणों का बलिदान किया जारहा है। राज्य में कार्य-कुशलता ही सब कुछ नहीं है। उसके कार्यों, उसकी नीतियों और उसके विधान की परख नैतिकता और सदाचार की दृष्टि से करनी चाहिये।

---

## सोलहवां अध्याय

# राजदण्ड और सदाचार

राजदण्ड और सदाचार का क्या सम्बन्ध है? क्या सदाचार की दृष्टि से—नैतिक दृष्टि से राजदण्ड उचित है? दण्ड का उद्देश्य क्या है? ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर आचार-शास्त्र की दृष्टि से विचार करना उचित ही नहीं वरन आवश्यक भी है। अतः इस अध्याय में इन प्रश्नों पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु ऐसा करने से पूर्व हम कुछ शब्दों की व्याख्या कर देना उचित समझते हैं। हमें नैतिक बुराई, दुर्गुण, पाप और अपराध पर यहां विचार करना है। सब से प्रथम नैतिक दूषण पर विचार किया जायः—

### नैतिक दूषण

दूषण नैतिक नियम या व्यवस्था का इच्छापूर्वक उल्लंघन है। यह प्राकृतिक बुराई, आध्यात्मिक बुराई अथवा त्रुटि से भिन्न है। प्राकृतिक बुराई प्रकृति के प्रकोप हैं, जैसे भूकम्प, बाढ़, तूफ़ान आदि। त्रुटि बौद्धिक बुराई है। किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही त्रुटि होती है। यह ऐच्छिक नहीं है। इसलिये यह नैतिक बुराई नहीं कही जा सकती। नैतिक बुराई तो जानबूझकर किसी नैतिक नियम का उल्लंघन करना है। यह इच्छा-शक्ति का कार्य है।

### दुर्गुण

मानव-आचरण के आन्तरिक स्वरूप का नाम चरित्र है। चरित्र

में सभी उत्तम नैतिक गुणों का समावेश है। चरित्र के दोषों का नाम ही दुर्गुण है। जब ये दुर्गुण कार्य-रूप में परिणत होते हैं तब हम उन्हें पाप या अपराध कहते हैं। दुर्गुण चरित्र का दोष है और पाप आचरण का दोष है।

## पाप और अपराध

पाप और अपराध— इन दोनों में मौलिक अन्तर बहुत ही सूक्ष्म है। जब कोई कार्य धर्म या सदाचार के नियमों का उल्लंघन करता है, तब हम उसे पाप कहते हैं; लेकिन राजदण्ड या राजनीति में सदाचार के प्रत्येक नियम के उल्लंघन को अपराध नहीं माना गया है। बहुत ही परिमित संख्या में पापों को राज्य अपराध स्वीकार करता है। अतः अपराध की कोटि में वे पाप आते हैं जो राज्य द्वारा दण्डनीय हैं। चोरी, हत्या, धोखेबाजी, मान-हानि आदि अपराध हैं। राज्य इनके लिये दण्ड देता है। परन्तु मिथ्या-भाषण, क्रोध, लोभ, क्षमा, दान न करना, इन्द्रिय-परायणता, शारीरिक व मानसिक अशुद्धि आदि के लिये कोई दण्ड नहीं दिया जाता।

## राजदण्ड

राज्य की ओर से अपराधों के लिये दण्ड-व्यवस्था की जाती है। भारत में अत्यन्त प्राचीन समय से राजदण्ड की व्यवस्था प्रचलित है। हमारे धर्म में दण्ड को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि उसे ही धर्म माना गया है। मनुस्मृति में लिखा है :—

"उस राजा के लिये सब प्राणियों के रक्षक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्म-तेजयुक्त दण्ड धर्म को ईश्वर ने प्रथम बनाया। उस दण्ड-भय से सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते। देश, काल, शक्ति तथा शास्त्र के अनुसार तत्व विचार कर अन्याय में प्रवृत्त अपराधियों को राजा यथायोग्य दण्ड दे। वह दण्ड ही

राजा, वही पुरुष, वही नेता, वही शासक, और वही चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता, दण्ड ही रक्षा करता और दण्ड ही सब के सोते हुए जागता है; इसलिये दण्ड को ही विद्वान लोग धर्म जानते हैं। शास्त्रानुसार धारण किया हुआ दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को भले प्रकार प्रसन्न रखता है और बिना विचारे प्रयोग किया हुआ सब को नष्ट कर देता है। इसलिये राजा का परम कर्तव्य है कि भले प्रकार विचार कर दण्ड का प्रयोग करे।" *

दण्ड का उद्देश्य मनुष्यों को सत्पथ पर आरूढ़ रखना है। जब मनुष्य किसी राज्य-नियम का उल्लंघन करते हैं तो वे सम्पूर्ण राज्य या समाज के प्रति अपराध करते हैं। इस पर हम गम्भीरता से विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायगा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसलिये वह जो कार्य करता है, उसका प्रभाव उस तक ही परिमित नहीं रहता, बल्कि समाज के दूसरे व्यक्तियों पर भी पड़ता है। एक मनुष्य किसी व्यक्ति के धन का अपहरण करता है अथवा उसे मारता है, तो इसका प्रभाव उन दोनों तक ही सीमित नहीं रहता; प्रत्युत समाज के दूसरे व्यक्तियों पर भी पड़ता है। यदि उसे चोरी या मारपीट के लिये दण्ड न दिया जाय, तो वह और भी व्यक्तियों की चोरी करेगा, तथा उन्हें मारेगा-पीटेगा। इससे न केवल उसका आचरण ही अनैतिक बनता है, प्रत्युत वह समाज में अव्यवस्था और अशान्ति को भी जन्म देता है। इसलिये वह समाज के प्रति भी पाप करता है। तब समाज या राज्य का यह कर्तव्य है कि वह उस अपराधी को व्यवस्था के उल्लंघन के लिये दण्ड दे।

## राजदण्ड का उद्देश्य

मनुस्मृति के उपर्युक्त अवतरण से यह तो भली प्रकार सिद्ध है

---

* मनुस्मृति (मानवार्य्य भाष्य) : आर्यमुनि सप्तमाध्याय १४—१९

कि राजनीति में दण्ड का प्रमुख स्थान है। अब यह विचार करना है कि राजदण्ड का उद्देश्य क्या है। मनुस्मृति अध्याय आठ श्लोक ३३४ में लिखा है :—

"जो मनुष्य जिस जिस अंग से विरुद्ध आचरण करता है, उस उस अंग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिये राजा हरण अर्थात् छेदन कर दे।"

इसी अध्याय के ११८ वें श्लोक में मनु ने लिखा है :—

"दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नाक, कान, आंख, धन और देह ये दस स्थान हैं जिन पर दण्ड दिया जा सकता है।"

इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में राजदण्ड का उद्देश्य मनुष्यों को शिक्षा देना था। मनुष्य अपराध न करें, उन्हें शिक्षा मिले— सबक मिले यही दण्ड का उद्देश्य था। स्वामी दयानन्द ने भी मनु के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए यह लिखा है कि "एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड देने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। *

राजदण्ड के उद्देश्य के सम्बन्ध में तीन प्रमुख 'वाद' प्रचलित हैं। वे हैं: (१) अवरोधात्मक (२) सुधारात्मक (३) प्रतिशोधात्मक।

अवरोधात्मकवाद के अनुसार दण्ड का उद्देश्य है दूसरों को अपराध करने से रोकना। मनु तथा प्राचीन वैदिक शास्त्रकारों का विचार इसी पक्ष में है। अपराधी को दण्ड इसी लिये दिया जाता है कि वह एक उदाहरण बन जाय और दूसरे लोग इससे शिक्षा लें। इसी वाद का स्पष्टीकरण इस उक्ति में है कि—"तुम्हें इसलिये दण्ड नहीं दिया गया है कि तुमने धन अपहरण किया है, प्रत्युत इसलिये कि धन का अपहरण भविष्य में न हो।" इस वाद के अनुसार सब से कठिन दण्ड प्राणदण्ड है।

सुधारात्मकवाद के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार

* स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ-प्रकाश षष्ठसमुल्लास पृ० २०८

करना है। अपराधी को जो दण्ड दिया जाता है उसका लक्ष्य है अपराधी का सुधार।

प्रतिशोधात्मकवाद के अनुसार दण्ड का उद्देश्य है नैतिक विधान की सत्ता की रक्षा करना और अपराधी के साथ न्याय करना। यदि एक अपराधी नैतिक विधान का उल्लंघन करता है, तो न्याय की यह मांग है कि उसे उसके लिये दण्ड दिया जाय। इस वाद के अनुसार प्राणदण्ड देना भी उचित है।

हमारे विचार में इन तीनों 'वादों' में सत्यता का अंश है। यदि हम इन तीनों वादों का समन्वय कर एक सिद्धान्त स्थिर करें तो हम दण्ड के उद्देश्य को भली भांति समझ सकते हैं। जब किसी नैतिक अपराध के लिये हम दण्ड देते हैं तब हमारे मन में स्थिति और मनोदशा के अनुसार कोई एक भाव प्रधान होता है, परन्तु उसके साथ अन्य भाव भी संश्लिष्ट होते हैं। हमारा एक नौकर चोरी करता है; हमें उसकी चोरी का ज्ञान हो जाता है; वह नौकर वैसे बड़ा कार्य-कुशल और अपने काम में दक्ष है। हम यह नहीं चाहते कि उसे घर से निकाल बाहर कर दिया जाय। ऐसी दशा में हमारा मुख्य उद्देश्य उसे सुधारने का ही होता है जिससे वह आगे ऐसा न करे। सुधारने की भावना में अपराध को रोकने की भावना भी है। ऐसी स्थिति में प्रतिशोध की भावना दुर्बल हो जाती है।

परन्तु कभी कभी ऐसी परिस्थितियां भी होती हैं, जब कि हम में सुधार की भावना की अपेक्षा प्रतिशोध की भावना ही अधिक होती है। एक बार हम कलकत्ते जारहे थे। हमारे रेल के डिब्बे में एक सैनिक की कमीज में से रात्रि के समय रुपये का बटुआ गायब हो गया। उसे नींद की झपकी आगई थी। जब आंखें खुलीं, तो देखा कि बटुआ गायब। पास में एक-दो बिना टिकट वाले लोग बैठे थे। सैनिक ने उनमें से एक देहाती को पकड़ लिया और उसे मारना-पीटना शुरू कर

दिया। फिर तो डिब्बे के सारे लोगों का ध्यान उधर गया। जो उस ओर गया, उसी ने दो-चार थप्पड़ और घूंसे उसको लगाये। कई घरों तक उसकी पिटाई की गई। उसके हाथ बांध दिये गये। कुछ ही देर में वह आंख बचाकर गायब हो गया। वह सैनिक उसे हावड़ा स्टेशन की पुलिस के हवाले करना चाहता था। यदि उसके दस रुपये मिल जाते, तो वह उसे वहीं छोड़ जाता। यहां स्पष्टतः प्रतिशोध की भावना ही काम कर रही थी। उसने जो रुपये चुराये, उसका बदला लेने के लिये यह सब कुछ किया गया।

अपराधों पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि ऐसे अनेक अपराध हैं जो मानसिक विकार के प्रतिफल हैं। इसलिये मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि अपराध रोग हैं। इसलिये उनकी रोग की भांति ही चिकित्सा करनी चाहिये। *

ऐसे भी अनेक अपराध हैं जो सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण किये जाते हैं। गरीबी, बेकारी, आर्थिक संकट और बेईमानी के कारण लोग चोरी, डकैती, धोखेबाजी आदि अपराध करते हैं। यदि समाज में धन का समुचित और न्यायपूर्ण वितरण हो; सभी लोगों को अन्न-वस्त्र तथा जीवनोपयोगी वस्तुएं मिलने की समान सुविधा हो और प्रत्येक व्यक्ति को काम मिले और उसकी योग्यतानुसार पारिश्रमिक, तो बहुत-से अपराध कम हो जायं अथवा बिलकुल भी न रहें।

---

* A new science of Crimnology is founded upon the theory that crime is a pathological phenomenon, a form of insanity and inherited or acquired degeneracy. It follows that proper treatment of the criminal is that which seeks his cure, rather than punishment.

*Seth:–Ethical principles P. 320.*

## क्या प्राणदण्ड नैतिक दृष्टि से उचित है ?

यदि दण्ड का सुधारवादी लक्ष्य नैतिक है, तो निःसन्देह प्राणदण्ड की सजा उचित नहीं है। दण्ड का लक्ष्य मनुष्य का—अपराधी का—सुधार करना है शिक्षा देना है। यदि उसके जीवन का अन्त ही कर दिया गया, तो फिर सुधार कैसे सम्भव होगा।

मानववाद की दृष्टि से भी प्राणदण्ड उचित नहीं है। इसमें प्रतिशोध की भावना विशेष रूप में मौजूद है जो मानवता के लिये कलंक है। इसीलिये अनेक सभ्य देशों में अब प्राणदण्ड की सजा उठा दी गई है।

हमारे देश में भी प्राणदण्ड की सजा को उठाने के लिये कई बार प्रस्ताव भारतीय धारासभा में पेश किये जा चुके हैं। परन्तु अभी तक इसमें सफलता नहीं मिली।

सदाचार का लक्ष्य है मानव-समाज का कल्याण। व्यक्तियों के सौद्देश्य संगठन का नाम ही समाज है। अतः यदि कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है, तो उसके लिये उसे प्राणदण्ड देना किस आधार पर नैतिक कहा जा सकता है। क्या प्राणदण्ड उस व्यक्ति का कल्याण करता है, जिसे फासी दी जाती है ? फांसी से उसका कोई कल्याण नहीं होता। उससे तो उसके जीवन का अन्त ही होजाता है। यह सम्भव है कि यदि वह जीवित रहता, तो पश्चाताप द्वारा अपने जीवन को सुधार कर एक श्रेष्ठ नागरिक बन जाता।

लोग यह कहते हैं कि प्राणदण्ड की सजा उठा देने से राज्य में अपराधों की वृद्धि होगी। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। जिन देशों से यह प्रथा उठाई गई है, उनमें अपराधियों की संख्या बढ़ी नहीं है, कम होगई है।

इसलिये न तो नैतिक दृष्टि से और न समाज के कल्याण की दृष्टि से प्राणदण्ड उचित है।

---

## सत्रहवां अध्याय

# नैतिक कर्तव्य और अधिकार

अधिकार और कर्तव्यों का प्रश्न समाज में—मानव समाज में ही सम्भव है। यदि ऐसी कल्पना की जाय कि एक सुनसान द्वीप में एक मनुष्य को रख दिया जाय जहां कोई दूसरा व्यक्ति न हो, तो क्या उसमें अधिकार और कर्तव्य की भावना का उदय हो सकेगा। उसमें जंगली पशुओं से अपनी रक्षा करने का भाव तो होगा; वह तो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, परन्तु अधिकार और कर्तव्यों की भावना का उदय न होगा। इसका कारण यही है कि अधिकार और कर्तव्य समाज की अपेक्षा रखते हैं। समाज में जहां व्यक्तियों का परस्पर सम्बन्ध होता है वहीं अधिकार और कर्तव्य पैदा होते हैं। यदि हम इन दोनों का विश्लेषण करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि इन दोनों में एक मौलिक समानता है। जो एक व्यक्ति का अधिकार है, वही दूसरे का कर्तव्य है। मुझे यह अधिकार है कि मैं स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण करूं; इस अधिकार के साथ मेरा यह नैतिक दायित्व भी है कि मैं कोई ऐसा भाषण न करूं जो किसी की मानहानि करे अथवा अश्लील हो और इसके साथ ही दूसरों का यह कर्तव्य है कि वे अपना आचरण इस प्रकार रखें कि मेरे इस अधिकार-भोग में बाधा न पड़े।

कर्तव्य नैतिक दायित्व हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ है। नैतिक दायित्व और कानूनी दायित्व ये दोनों भिन्न भिन्न हैं।

नैतिक दायित्व या नैतिक अधिकार लोकमत या समाज की सत्ता पर निर्भर हैं। राज्य उन पर अमल कराने की व्यवस्था नहीं करता।

समाज के सर्वोत्कृष्ट हित को दृष्टि में रखकर हमारे जीवन के सर्वतोमुखी विकास एवं अभ्युदय के साधनों का हमें अधिकार है, क्योंकि हम समाज के अंग हैं। और हमारा यह नैतिक कर्तव्य है कि हम उन साधनों का प्रयोग ऐसे ढंग से करें कि जिससे इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

## मानव-अधिकार

### १ जीवन का अधिकार

मनुष्य का सब से मूल्यवान अधिकार है जीने का अधिकार। आनन्द—मुक्ति अथवा आत्मदर्शन—मानव का लक्ष्य है। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये साधना अथवा योग की आवश्यकता है और साधना के लिये यह जरूरी है कि हम दीर्घजीवी हों; अतः आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से जीवन की रक्षा परम आवश्यक है।

सामाजिक दृष्टि से भी जीवन बहुमूल्य है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का समान मूल्य है। वह चाहे छोटा हो या बड़ा, चाहे बुद्धिमान हो या विवेकहीन, उसका समाज में अपना एक स्थान है। अतः उसे सामाजिक उत्कर्ष के लिये जीवन का अधिकार है। इसीलिये तो सभ्य देशों के राज्य-विधान में आत्महत्या भारी अपराध माना गया है।

जीवन का इतना भारी मूल्य होने पर भी हम देखते हैं कि मानवता ने अभी तक इस वैज्ञानिक युग में भी इसके महत्व को नहीं समझा और आज कुछ साम्राज्यवादी राष्ट्रों के अधिनायक अपनी साम्राज्य-पिपासा के लिये युद्ध में रत हैं। आज लाखों व्यक्ति युद्धों में मारे जा रहे हैं; उनके जीवन का मानो कुछ मूल्य ही नहीं।

जीने के अधिकार के साथ राज्य या समाज का यह कर्तव्य जुड़ा

हुआ है कि वह ऐसी व्यवस्था कायम करे जिसमें सभी मनुष्यों को काम मिल सके और उस काम का उचित पारिश्रमिक भी।

जीने के अधिकार का एक दूसरा फलितार्थ यह है कि हमें अपना जीवन बहुमूल्य समझने के साथ दूसरों के जीवन को भी बहुमूल्य समझना चाहिये। जब तक हम दूसरों के जीवन को पवित्र न समझेंगे, हम अपने जीने के अधिकार का निभयतापूर्वक भोग नहीं कर सकते।

## २ स्वाधीनता

मनुष्य का दूसरा मौलिक अधिकार है स्वाधीनता। मनुष्य को कर्म करने की पूरी स्वाधीनता हो। ऐसी दशा में ही वह अपनी शारीरिक एवं मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास कर अभ्युदय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। समाज का हित भी इसी में है कि उसमें व्यक्तियों को स्वातंत्र्य हो। स्वाधीनता से यह मतलब नहीं है कि मनुष्य स्वच्छन्द होकर मनमाने ऐसे कार्य करे कि जिससे वह अपने विकास में बाधा डालने के साथ ही समाज का भी अपकार करे। स्वाधीनता से तात्पर्य यह है कि वह नैतिक कार्य करने में स्वतन्त्र हो। उसे भाषण करने की स्वाधीनता हो; उसे मत या विचार प्रकट करने की स्वाधीनता हो; उसे धर्म पालन की स्वाधीनता हो और उसे सामाजिक तथा आर्थिक स्वाधीनता के साथ राजनीतिक स्वाधीनता भी प्राप्त हो।

## ३ सम्पत्ति

संसार में सुख-पूर्वक जीने के लिये प्रत्येक मनुष्य के लिये रहने को मकान, खाने को भोजन और पहनने को वस्त्र अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके अतिरिक्त उद्योग-व्यवसाय, शिक्षा तथा शिक्षण-संस्थाएं भी जरूरी हैं। इन पर व्यक्तियों का अधिकार आवश्यक है। यदि व्यक्तियों का कोई स्थायी गृह न हो, यदि आज खा लेने के बाद कल के खाने भर के लिये उनके पास अन्न न हो, तो उनकी स्थिति कितनी दयनीय होगी,

यह कल्पना करना आजकल की देशव्यापी महंगाई और अन्न की कमी में मुश्किल नहीं है। आज संसार में पूंजीवादी व्यवस्था के कारण राज्य के अधिकांश व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक सम्पत्ति का भोग नहीं कर सकते। क्योंकि राज्य के अधिकाश व्यक्ति सम्पत्तिहीन हैं और मुट्ठी भर लोग ही सम्पत्ति के स्वामी बने बैठे हैं। समाजवादी व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति के भोग का अधिकार सम्पूर्ण समाज को है, कुछ व्यक्तियों के वर्ग को नहीं। यह व्यवस्था सोवियट रूस में प्रचलित है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्णरीत्या निष्कासन नहीं हो जाता। प्रत्युत मकान, गृह-सामग्री, मोटर, घोड़ा, गाय, खेत आदि पर व्यक्तियों का निजी अधिकार बना रहता है। आज सोवियट रूस में भी निजी अधिकार मर्यादित रूप में कायम है।

## ४ शिक्षा

समाज में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार है। समाज के कल्याण तथा मानव-जीवन के आनन्द के लिये सत्य ज्ञान, विद्या और शिक्षा परम आवश्यक है। समाज को इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। समाज में स्त्री-पुरुष दोनों को शिक्षा का समानाधिकार है।

## ५ न्याय

समाज में जब मनुष्यों में अधिकार के प्रश्न पर संघर्ष होता है या विवाद उत्पन्न होता है, तब न्याय-सत्ता उसका निर्णय करती है। प्रत्येक राज्य में न्याय-व्यवस्था होती है जो नागरिकों के अधिकारों का निर्णय करती है। प्रत्येक व्यक्ति को न्याय-व्यवस्था से न्याय प्राप्त करने का अधिकार है। न्याय-सत्ता का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के विधान के अनुसार निष्पक्ष भाव से धर्मानुसार न्याय की व्यवस्था करे।

# मानवों के कर्तव्य

यह हमने ऊपर बतला दिया है कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य जुड़े हुए हैं। ये कर्तव्य निम्न हैं :—

## १ जीवन की रक्षा

प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से हानि न पहुंचावे। वह अहिंसा का पालन यथा सम्भव करे। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह महात्मा गांधी की पूर्ण अहिंसा का पालन करेगा; परन्तु वह व्यावहारिक अहिंसा का पालन तो कर ही सकता है।

## २ स्वाधीनता की रक्षा

हमें दूसरों की स्वाधीनता के भोग में बाधा न डालनी चाहिये। हमें ऐसे ढंग से आचरण करना चाहिये कि दूसरे व्यक्ति अपनी स्वाधीनता का स्वतंत्रता के साथ भोग कर सके।

## ३ चरित्र का विकास

हमें दूसरों के चरित्र का आदर करना चाहिये। यद्यपि हम दूसरों के चरित्र को पूर्ण नहीं बना सकते, परन्तु हम उसके विकास में अपना सर्वश्रेष्ठ योग तो दे ही सकते हैं।

## ४ अस्तेय

हमें दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण न करना चाहिये। चोरी अनेक प्रकार की होती है। किसी वस्तु को उठा लेना, वाणी से छिपाना, बोल कर चोरी करवाना, मन से परायी वस्तु को ताकना यह सब चोरी है। चोरी के बड़े नवीन और सभ्य रूप आजकल के वैज्ञानिक युग में प्रचलित हैं। उन सबों का परित्याग आवश्यक है। किसी के सुख-साधनों एवं

जीविका के साधनों को हथियाने की चेष्टा; किसी के समय, शक्ति अथवा गौरव को नष्ट करने का प्रयत्न न करना चाहिये।

### ५ राज्य-विधान का पालन

हमें राज्य-विधान का पालन करना चाहिये। परन्तु यदि राज्य का विधान अनैतिक है, तो हमें चाहिये कि हम नियमित रूप से उसमें परिवर्तन करने का उपाय करें।

### ६ सत्य का पालन

हमें सत्य का पालन करना चाहिये। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि हमें परस्पर व्यवहार में निष्कपटता का आचरण करना चाहिये। मन में जैसा किसी विषय को समझा हो, वचनों द्वारा उसे वैसा ही प्रकट करना और व्यवहार में भी वैसे ही काम करना ही सत्यता है। हम कोई प्रतिज्ञा करें, तो उसके पालन का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हमने किसी का धन या कोई वस्तु ऋण के रूप में ली है तो हम उसे उसी रूप में वापस दे दें।

### ७ इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्य की पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन है। पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं—( १ ) श्रवण ( २ ) त्वचा ( ३ ) चक्षु ( ४ ) रसना ( ५ ) गंध या नासिका। इन्द्रियां नाक, कान, आंख आदि मांस के गोलकों का नाम नहीं प्रत्युत इनकी शक्तियों का ही नाम है। इन पांचों इन्द्रियों को सहायता देने वाली पांच कर्मेन्द्रियां भी हैं—( १ ) हाथ ( २ ) पैर ( ३ ) वाणी ( ४ ) गुदा ( ५ ) उपस्थ (लिंग या योनि) ज्ञानेन्द्रियां सूक्ष्म हैं और कर्मेन्द्रियां स्थूल। ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करने से कर्मेन्द्रियों का निग्रह स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ यह है कि हम इन्द्रियों को श्रेष्ठ कार्यों में

लगावें और बुरे कार्यों से उन्हें बचावें।

## कर्तव्यों की अनिवार्यता

नैतिक दृष्टि से सब कर्तव्य अनिवार्य हैं। प्रत्येक मनुष्य को उनका पालन करना चाहिये। वह यह भेद नहीं कर सकता कि कुछेक कर्तव्य अनिवार्य हैं और दूसरे अनिवार्य नहीं हैं। काण्ट ने कर्तव्यों में इसी प्रकार के दो भेद माने हैं—( १ ) पूर्ण दायित्व ( २ ) अपूर्ण दायित्व। पूर्ण दायित्व के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा और अस्तेय आते हैं; अपूर्ण उत्तरदायित्व के अन्तर्गत परोपकार, दान, दक्षिणा आदि हैं। परन्तु यह भेद नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है। क्योंकि नैतिक दृष्टि से परोपकार भी उतना ही मूल्य रखता है जितना कि सत्य या अहिंसा।

## अठारहवां अध्याय

# त्रिगुण विवेचन

भारतीय दार्शनिक साहित्य में सत्, रज और तम इन तीन गुणों का बड़ा महत्व है। इन तीनों गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। इन तीन गुणों के कारण ही विकाररहित जीवात्मा देह के बन्धन में बन्ध जाता है। सत्, रज और तम जीवात्मा के गुण हैं और इनकी उत्पत्ति प्रकृति के संयोग से होती है।

### सत।गुण

इन तीनों गुणों में सत्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक और दुःखरहित है। वह सुख और ज्ञान के सङ्ग से जीवात्मा को बन्धन में डालता है। जिस पुरुष की प्रकृति में सत्वगुण की अधिकता हो जाती है वह रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण प्रधान हो जाता है। जिसमें तमोगुण की अधिकता होती है, उसमें अन्य दूसरे दोनों गुण दब जाते हैं और जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, उसमें अन्य दोनों गुण दब जाते हैं। इस शरीर में सब इन्द्रियों में जब प्रकाशरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तब सत्वगुण बढ़ा हुआ जानना चाहिये। इस प्रकार सत्व गुण आत्मा में प्रकाश पैदा करता है और जब वह प्रधान होता है, तब जीवात्मा आनन्द-पथ पर अग्रसर होता है।

### रजोगुण

राग-रूप रजोगुण कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ है और

जीवात्मा को कर्मों की और उनके फलों की आसक्ति से बांधता है। रजोगुण के अधिक होने पर लोभ की प्रवृत्ति होना, सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ-बुद्धि से आरम्भ एवं मन की चंचलता और विषय-भोगों की लालसा ये सब उत्पन्न होते हैं।

## तमोगुण

सर्व देहाभिमानियों के मोहनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानना चाहिये। यह जीवात्मा को प्रमाद ( इन्द्रियों व अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टाएं ) आलस्य तथा निद्रा से बांधता है। तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद, व्यर्थ चेष्टा, मोह, अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियां ये सब उत्पन्न होते हैं।

## त्रिगुणों के फल

गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने आत्मा के इन तीनों गुणों के फल बतलाये हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।**
**जघन्यगुणवृतिस्था : अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥**

**अध्याय १४**

सत्वगुण में स्थित हुए पुरुष, उच्च स्थिति को प्राप्त होते हैं अर्थात् महात्मा और ऋषि मुनि की कोटि को प्राप्त होते हैं; रजोगुण वाले मध्य में रहते हैं, वे राज्य-सुख आदि भोग करते हैं; और तमोगुण वाले अधोगति को प्राप्त होते हैं।

## पाश्चात्य विद्वान और सद्गुण

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने चार मुख्य गुण माने हैं; ( १ ) बुद्धिमत्ता ( २ ) उत्साह ( ३ ) संयम ( ४ ) न्याय। इन चार मौलिक

गुणों के अन्तर्गत सभी सद्‌गुण आजाते हैं:—

( १ ) बुद्धिमानी के अन्तर्गत सावधानी, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, आदि आजाते हैं।

( २ ) उत्साह के अन्तर्गत वीरता और धैर्य दोनों शमिल हैं। उत्साह में निश्चय, अध्यवसाय और कष्टसहन भी आजाते हैं। आशा और श्रद्धा का उत्साह से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

( ३ ) संयम के अन्तर्गत समस्त शारीरिक और बौद्धिक प्रलोभन का प्रतिरोध शामिल है।

( ४ ) न्याय के अन्तर्गत प्रतिज्ञा-पालन, कर्तव्य-पालन, सद्‌भावना, और पारस्परिक सम्बन्धों में सदाशयता शामिल हैं। न्याय में परोपकार, प्रेम, दया, हर्ष, और स्मित हास्य भी आजाता है।

इस प्रकार प्लेटो के इन चारों आधारभूत गुणों के अन्तर्गत सभी नैतिक गुणों का समावेश हो जाता है। प्लेटो का यह कथन है कि बुद्धि या ज्ञान की प्रधानता समाज के शासक-वर्ग में होती है; साहस और उत्साह की प्रधानता सैनिकों में होती है और संयम एवं न्याय ( जिनका मतलब एक ही है। ) तीनों वर्गों में होनी चाहिये, परन्तु इनकी प्रधानता श्रमिक वर्ग में ही सम्भव है।

इस सम्बन्ध में अरस्तू के विचार भी मनन-योग्य हैं। उसके अनुसार बौद्धिक श्रेष्ठता शिक्षण द्वारा ही पैदा होती है और बढ़ती है। नैतिक श्रेष्ठता अभ्यास का फल है। अतः हम यह देखते हैं कि नैतिक श्रेष्ठता हमारी प्रकृति का अंग नहीं है; यदि वह प्रकृति का अंग होती तो अभ्यास द्वारा उसे व्यर्थ नहीं किया जासकता था अथवा उसके विपरीत गुण पैदा नहीं किया जासकता था। ये नैतिक श्रेष्ठताएं न हमारी प्रकृति के अंग हैं और न वे उसके विपरीत ही हैं। हम उन्हें विकसित करने, उन्हें ग्रहण करने के योग्य हैं, परन्तु ऐसा अभ्यास से ही सम्भव है। प्रकृति ने पहले हमें देखने और सुनने की इन्द्रियां दीं

और बाद में हमने उनका प्रयोग किया। यह बात नैतिक श्रेष्ठताओं के विषय में नहीं है। नैतिक गुण तो अभ्यास से ही प्राप्त किये जाते हैं। हम सितार बजाकर ही तो सितार बजाना सीखते हैं; इसी प्रकार हम साहसिक कार्यों को कर साहसी बन जाते हैं। *

अरस्तू आत्मा के तीन गुण मानता है— इच्छा, प्रयत्न और प्रवृत्ति। इनमें से सद्गुण किसके अन्तर्गत है ? अरस्तू जवाब देता है कि वह प्रकृति के अन्तर्गत ही आसकता है। सद्गुण की ( virtue ) परिभाषा उसने इस प्रकार की है :—

"Virtue is an acquirement or fixed state, tending by deliberate purpose, towards a mean relative to us."

इसके उपरान्त उसने निम्न-लिखित सद्गुणों का उल्लेख किया है :—

( १ ) उत्साह ( २ ) संयम ( ३ ) उदारता ( ४ ) दानशीलता ( ५ ) हृदय-विशालता ( ६ ) अक्रोध ( ७ ) भद्रता व ( ८ ) लज्जा।

यद्यपि अरस्तू नैतिक गुणों को आत्मा की प्रकृति का अंग नहीं मानता, तथापि वह यह स्वीकार करता है कि "हमारी समस्त स्वभावगत प्रवृत्तियां और इसलिये हमारी समस्त नैतिक श्रेष्ठताएं एक अर्थ में हमें प्रकृति से ही उपलब्ध होती हैं। अर्थात् जन्म-काल से ही हममें संयमी, साहसी, न्यायप्रिय आदि बनने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु ग प्राकृतिक या स्वाभाविक प्रवृत्तियां उन नैतिक श्रेष्ठताओं या गुणों से भिन्न हैं, तथापि बुद्धि और विवेक के सहयोग से वे ›वृत्तियां नैतिक

---

* Bain : Mental & moral Science : Aristotle's Ethical Syste.n P. 482

गुणों के रूप में बदली जासकती हैं।" ‡

इस प्रकार अरस्तू को यह स्वीकार कर लेना पड़ा कि आत्मा की प्रकृति में नैतिक गुण मौजूद होते हैं। यह बात दूसरी है कि वे विकसित रूप में नहीं होते। इस प्रकार त्रिगुण—सत्, रज, तम का सिद्धान्त वास्तव में सर्वमान्य है।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में बरनार्ड डी. मैण्डविले नामक एक विचारक पैदा हुआ। इसने समाज और सदाचार पर एक व्यंगात्मक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है, "मधुमक्खियों की कहानी—या वैयक्तिक दुर्गुणः सामाजिक लाभ"। नैतिक गुणों व अवगुणों के विषय में इस लेखक ने लिखा है—

"नैतिकता मनुष्य के लिये स्वाभाविक नहीं है। यह तो बुद्धिमान व्यक्तियों का आविष्कार है, जिन्होंने लोगों में यह विश्वास जमा देने का प्रयास किया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह सर्वश्रेष्ठ होगा कि वह अपने हितों की अपेक्षा सामाजिक हित को विशेषता दे। चूंकि वे इस स्वहित के विनाश के लिये कोई वास्तविक क्षतिपूर्ति न कर सके, तब उन्होंने एक काल्पनिक क्षतिपूर्ति की कल्पना करली:— वह है मान-

---

‡ All our dispositions, and therefore all our ethical excellencies come to us in a certain sense by nature.; that is, we have from the moment of birth a certain aptitude for becoming temperate, courageous, just etc. But these natural aptitudes are something altogether distinct from the ethical excellencies proper, though capable of being matured into them, if intellect and prudence be superadded.

*Bain : Mental & Moral Science P. 499.*

सम्मान। इस आधार पर ही उन्होंने मनुष्यों को दो भागों में बांटा, एक नीच तथा हेय जो स्वार्थत्याग के अयोग्य हैं और दूसरे श्रेष्ठ, क्योंकि उन्होंने अपने भावों का दमन कर लोक-कल्याण का प्रयास किया है। इस प्रकार मनुष्य दबाव से नहीं बल्कि चाटुकारिता से सदाचारी बना।"

एक अन्य स्थल पर इसी लेखक ने लिखा है:—

"मनुष्य हरेक वस्तु को अपने में केन्द्रित करता है। अपने हित के सिवा वह और किसी के हित के लिये न प्रेम करता है और न घृणा ही। यही नहीं, हम अपने आचरण के दूसरों पर प्रभाव की परवाह भी नहीं करते। मानवों के लिये हमारी आत्मा में स्वाभाविक प्रेम नहीं है।"

मैण्डविले फिर एक स्थान पर लिखता है:—

"नैतिक सद्गुण राजनीतिक सन्तान हैं जिनकी उत्पत्ति अहंकार से चापलूसी ने की है।"

फिर वह अहंकार की प्रशंसा में लिखता है:—

"अहंकार और गर्व ने इतने अस्पताल बनाये हैं जितने कि सब सद्गुण भी नहीं बना सके।"

एक स्थान पर दुर्गुणों की प्रशंसा में वह लिखता है:—

"मनुष्य की भलाई नहीं, बल्कि उसकी बुराइयां ही सांसारिक महानता का द्वार खोलती हैं। यदि भोग-विलासिता न हो, तो हमारा व्यापार ही न चले।"

इन अवतरणों को यहां प्रस्तुत करने से हमारा प्रयोजन यही है कि हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जीवात्मा में 'अहं' है, उसमें अहकार की मात्रा है। यह स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही जैसे कि जीवात्मा की पवित्रता भी स्वाभाविक है। परन्तु जब जीवात्मा में रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, तब उसकी निर्मलता पर बुराई का आवरण पड़ जाता है और जब उसमें सात्विक गुणों का प्राधान्य हो जाता है, तब उसमें सभी नैतिक गुणों का सुन्दर रूप में विकास होता

है। उस समय हम यह अनुभव करते हैं कि जीवात्मा या मनुष्य महान है, धर्मात्मा है, पवित्र है, त्यागी है और परमार्थी है। परन्तु जब उसकी प्रकृति में तमोगुण की प्रधानता होती है, तब वह अत्यन्त निकृष्ट, अहंकारी, घमंडी और पापी के रूप में प्रकट होता है। हमें यह दुःख है कि यूरोपीय लेखक मैंएडविले ने केवल तमोगुणी व्यक्ति के चरित्र पर ही ध्यान दिया है। यदि वह स्वयं सात्विकी प्रवृत्ति को ग्रहण कर मनुष्य की सात्विक प्रकृति की एक झांकी भर कर लेता तो उसे 'मधु-मक्खियों की कहानी' न लिखनी पड़ती।

---

उन्नीसवां अध्याय

# सामाजिक सदाचार की समस्याएं

सदाचार व्यक्तिगत जीवन में साधना का विषय नहीं है, वरन् उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है; वह राजनीति, भौतिक विज्ञान या भूगोल आदि की भांति एक सीमित क्षेत्र में अपना प्रभाव नहीं रखता प्रत्युत एक व्यक्ति के जीवन से लेकर अखिल मानव-समाज तक अपना प्रभाव रखता है। व्यक्तियों के एक छोटे परिवार, पड़ौस, ग्राम, नगर, प्रान्त, राज्य तथा अखिल संसार के राष्ट्रों तक के जीवन में सदाचार का महत्वपूर्ण प्रभाव और आदर है।

## परिवार और पारिवारिक जीवन

समाज का मुख्य आधार व्यक्ति हैं और व्यक्ति एक परिवार के सदस्य-रूप में अपना अस्तित्व रखते हैं। अतः परिवार का मानव-समाज में महत्वपूर्ण स्थान रहा है; चाहे व्यक्ति सभ्यता की किसी भी अवस्था में हों, उनमें परिवार की संस्था अवश्य ही मिलेगी। वास्तव में मानव-सभ्यता का विकास परिवारों से ही हुआ है। और आज, विज्ञान की प्रगति के कारण ससार के समस्त राष्ट्र एक पारिवारिक संघटन के रूप में संघटित हैं।

परिवार पति, पत्नी और उनकी सन्तान से बनता है। हमारे देश में प्राचीन-काल से संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित रही है। अतः उसमें पती-पत्नी और उनकी सन्तान के अतिरिक्त पति के माता-पिता, भाई,

बहिन (अविवाहिता), तथा उनके पौत्रादि भी सम्मिलत होते हैं। प्राचीन समय में परिवार दो प्रकार के होते थे— मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान। पहले परिवार में स्त्री परिवार की प्रमुख होती थी अर्थात् परिवार में स्त्री को प्रधानता प्राप्त थी। दूसरे प्रकार के परिवार में पुरुष की प्रधानता होती थी। इसमें पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों को विशेष स्थान प्राप्त था। कालान्तर में पुरुषों ने अपने बल और चातुर्य्य से स्त्रियों की प्रधानता को नष्ट कर दिया। अतः आज संसार में किसी भी सभ्य देश में मातृ-प्रधान परिवार नहीं रहे हैं। हां, कुछेक असभ्य जातियों में मातृ-प्रधान परिवार आज भी विद्यमान हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में, विशेषतः त्रावनकोर आदि में, आज भी राज्य-उत्तराधिकार में स्त्री को एक विशेष महत्व प्राप्त है। त्रावणकोर में राज्य-उत्तराधिकार राजा के पुत्र को नहीं, वरन् राजा की भगिनी-सुत को प्राप्त होता है। यह प्रथा दक्षिण भारत में मातृ प्रधान परिवार का अवशेष-मात्र ही है।

परिवार का अस्तित्व दाम्पत्य-प्रेम—पती पत्नी के प्रेम पर स्थिर है; इस प्रेम के फलस्वरूप उन्हें पुत्र-पुत्रियां प्राप्त होती हैं। वे उनका लालन-पालन कर उन्हें श्रेष्ठ नागरिक बनाने का प्रयत्न करते हैं। शैशव तथा किशोरावस्था में माता-पिता ही उनके संरक्षक होते हैं और अपने संरक्षण में वे उनका मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक विकास करने के लिये प्रयत्नवान् होते हैं।

परिवार वास्तव में सन्तान के लिये नैतिक शिक्षण के लिये पाठशाला है। वे परिवार में सहानुभूति प्रेम, दया, सहयोग, बंधुत्व तथा आत्मत्याग आदि सामाजिक गुणों को सीखते हैं। गृह-भावना, वास्तव में, अन्य समस्त सामाजिक भावनाओं का मूल है।

नीति-विज्ञान के एक सुयोग्य लेखक का यह कथन है कि:—

"यदि आदर्शात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो परिवार का एक ही लक्ष्य है और वह यह है कि समस्त सदस्यों का कल्याण। विवाह

एक ऐसी पद्धति है जो स्त्री-पुरुष की पारस्परिक आसक्ति, चाहे वह काम-जन्य हो या मैत्री-पूर्ण, को एक चिरस्थायी, घनिष्ठ, निश्चयात्मक एवं उत्तरदायी एकत्व में परिणत कर देती है, जिसका उद्देश्य सामान्य हित-साधन होता है। इस प्रकार इस सामान्य हित-साधन के लिये उनकी स्वार्थपरता और भावुकता को एक नैतिक स्तर मिल जाता है, जो एकांगी जीवन में सम्भव नहीं। जाति के रक्षण तथा उसकी देखरेख के लिये परिवार एक महान सामाजिक संस्था है। इस कार्य की माता-पिता के चरित्र पर प्रतिक्रिया होती है। बालकों के पालन-पोषण के दायित्व के कारण माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों में दया-भाव, सहानुभूति, आत्मा-त्याग, दृढ़ निश्चयता, दायित्व तथा कर्मवीरता आदि गुणों का विकास होता है।" *

एक दूसरे पाश्चात्य विज्ञान का यह विचार है कि, "आदर्श परिवार सब से सुन्दर और सब से पवित्र मानवीय सम्बन्ध है। पति, पत्नी, माता, पिता तथा बालक आदि शब्द कितने सारगर्भित एवं मूल्यवान् हैं। आदर्श परिवार में— आदर्श गृह में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के हित के लिये कार्य करने में कितने आनन्द का अनुभव करता है। पती-पत्नी स्वतन्त्र व्यक्तित्व हैं, जिनके समान अधिकार हैं, जो अपने विषय के विशेषज्ञ हैं, अपने अपने क्षेत्र में प्रवीण हैं और जो एक दूसरे के कार्य में सहयोग देते हैं तथा सहयोग की आकांक्षा करते हैं। प्रत्येक बालक बड़ी श्रद्धा की भावना से माता-पिता के आदेश को मानता है और उसे अपने व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में उनसे पूरी सहायता मिलती है। परिवार के समस्त सदस्य प्रत्येक की आकांक्षा पूर्ति में मिलकर योग देते हैं; प्रत्येक सर्वहित में अपना आत्म-त्याग करता है। आदर्श परिवार की प्राप्ति बहुत कम होती है। परन्तु सभी विचारशील पुरुष और स्त्रियां

* Devy & Tufts : Ethics P. 489

आदर्श परिवार की प्राप्ति के लिये ही चेष्टा करते हैं। ‡

जहां परिवार में व्यक्ति सहानुभूति, सहयोग, दया, प्रेम तथा उदारता और आत्म-त्याग के गुणों का विकास करता है, वहां परिवार उसमें स्वार्थपरता, संकुचित बुद्धि तथा संकीर्णता भी पैदा करता है। इससे उसमें राजभक्ति तथा मानवता-प्रेम की प्रवृत्ति कुंठित हो जाने की संभावना होती है। इसीलिये कुछ लोग परिवार को ही नष्ट कर देना चाहते हैं; परन्तु उनका यह उपचार अवाञ्छनीय ही नहीं, प्रत्युत अव्यावहारिक एवं असम्भव भी है। पारिवारिक जीवन के दोषों व उसकी बुराइयों के निवारण के लिये समाज एवं सुधारकों को प्रयत्न करना चाहिये। परिवार स्वयं दूषित नहीं है, उसमें जो दोष आजाते हैं, उनका कारण समाज और उसकी प्रचलित दोषपूर्ण व्यवस्था ही होती है।

समाज का परिवार पर एक सीमा तक नियंत्रण होना चाहिये। समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे बालकों का स्वास्थ्य सुधरे और उन्हें उचित शिक्षण मिले। बालकों से काम न लिया जाय। समाज को पति-पत्नी में समानता स्थापित करनी चाहिये, पत्नी को आर्थिक समता प्राप्त हो तथा सामाजिक जीवन में उसे पुरुष के समान अधिकार हों।

आज हमारे देश में ही नहीं अन्य देशों में भी पारिवारिक जीवन में अनेक दोष आगये हैं; इस कारण परिवारों में आनन्द, सुख व शान्ति के स्थान पर परस्पर असन्तोष, वैरभाव तथा संघर्ष देख पड़ते हैं। बालक-बालिकाओं का उचित पोषण तथा शिक्षण कैसे होना चाहिये, इसे बहुत कम माता-पिता जानते हैं और अपने ज्ञान से लाभ उठाने वाले तो और भी थोड़ी संख्या में हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पारिवारिक जीवन में बालकों का जैसा पालन-पोषण होता है, वैसा शिशु-शालाओं में राज्य के नियंत्रण में नहीं हो सकता। उनमें उन स्वाभाविक गुणों का विकास नहीं हो सकता जो उन्हें

‡ Wright : General Introduction to Ethics P. 453

माता-पिता के संरक्षण में सुलभ है। सोवियट रूस ने बालकों तथा स्त्रियों की अवस्था में सुधार के लिये महान प्रयत्न किये हैं। आज वहां नारी को पुरुष के समान प्रत्येक क्षेत्र में समानता प्राप्त है। वहां बालकों के पोषण व शिक्षण के लिये ३ वर्ष से ८ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिये शिशुशालाएं हैं, जिनका राज्य की ओर से सुचारु रूप से संचालन होता है।

## विवाह और वैवाहिक सुधार

परिवार का आधार विवाह है। स्त्री-पुरुष के मध्य जो पारस्परिक स्वाभाविक आकर्षण है, उसके कारण ही दोनों में प्रेमपूर्ण संयोग होता है, जो एक चिरस्थायी सम्बन्ध के रूप में परिणत हो जाता है। इसी का नाम विवाह है। जीवन में काम-तत्व का महत्व इसलिये भी है कि इससे प्रजा का रक्षण होता है और जाति की रक्षा। काम-शक्ति एक अनुपम महान शक्ति है, जो विवाह द्वारा मर्यादित हो जाती है और उससे आदर्श प्रेम तथा मैत्री की भावना पैदा होती है। विवाह काम-भाव को एक आदर्श दाम्पत्य-प्रेम में परिणत कर देता है। इस प्रकार विवाह एक सामाजिक संस्था है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह एक नैतिक संस्था है। एक विद्वान का यह कथन है:—

"एक ओर साधारणतया व्यक्तियों में काम-वासना की सन्तुष्टि आवश्यक है तो दूसरी ओर उसमें ऐसे परिष्कार की आवश्यकता भी है कि वह व्यक्ति के जीवन में मर्यादित रूप में रहे। यदि काम-भाव का दमन किया जाय तो इससे अस्वाभाविकता, ठंडापन, संकीर्णता तथा मानसिक अव्यवस्था एवं स्नायुविक शैथिल्य उत्पन्न होने की सम्भावना होती है और यदि काम-भाव का बौद्धिक, सामाजिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रभावों तथा हित के साथ सम्बन्ध स्थापित न कर उसका परिष्कार न किया जाय अथवा उस पर उचित नियंत्रण न हो, तो इससे व्यक्तित्व

का पराभव हो जाता है। प्रथम अवस्था में स्त्रियां पीड़ित होती हैं, तो दूसरी में पुरुष।"*

विवाह एक नैतिक संस्था के रूप में सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। विवाह द्वारा, वास्तव में, एक ऐसा मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसमें केवलमात्र दो आत्माओं का ही मिलन नहीं होता, वरन् दो शरीरों तथा दो मनों का भी मिलन होता है। स्त्री-पुरुष परस्पर मिलकर समाज की आधार-शिला को पुष्टि प्रदान करते हैं। विवाह के द्वारा स्त्री-पुरुष केवल व्यक्तिगत सुख का ही भोग नहीं करते वरन् वे सामाजिक विकास, जातीयता के निर्माण तथा राष्ट्र की प्रगति में भी योग देते हैं। विवाह तथा वैवाहिक जीवन द्वारा स्त्री-पुरुष ऐसे गुणों का विकास करते हैं, जिनकी राष्ट्र के लिये परम आवश्यकता है; जैसे, आत्म त्याग, परोपकारिता, सहयोग, प्रेम, उदारता तथा सहानुभूति।

एक पाश्चात्य विद्वान ने विवाह की पवित्रता के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं:—

"विवाह के सम्बन्ध में आधुनिक आदर्श है नैतिक संस्कार। यह एक प्रकार के व्यावसायिक समझौते की अपेक्षा अधिक पवित्र है। विवाह एक ऐसा बंधन है, जो जीवन भर के लिये स्त्री-पुरुष को आबद्ध कर देता है। इसका भावुक आधार पवित्र प्रेम की भावना है, जिसमें कोमलता, सम्मान, सहानुभूति, बुद्धिमत्ता आदि गुण निहित हैं, और जिनका काम्य आकर्षण के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित है।" ‡

वर्तमान काल में पाश्चात्य देशों में, जो सभ्य माने जाते हैं, एकपतिव्रत तथा एकपत्नीव्रत का ही नियम है। हमारे देश में हिन्दू विधान के अनुसार स्त्री एक समय में एक पति ही रख सकती है अर्थात् स्त्री

---

* Devy & Tufts : Ethics P. 503

‡ Wright : General Introduction to Ethics P. 452

के लिये पातिव्रत्य का पालन अनिवार्य है; परन्तु पुरुष के लिये ऐसा नहीं है। पुरुष यदि चाहे तो एक विवाहित स्त्री के रहते एक, दो, तीन और चार तथा इससे भी अधिक पत्नियां रख सकता है। भारत की रियासतों के अनेक राजाओं के एक राजरानी होती है, परन्तु सैकड़ों उपपत्नियां। इसी प्रकार मुसलमानों में एक पति एक ही समय में चार पत्नियां तक रख सकता है।

हिन्दू विधान में नवीन प्रस्तावित संशोधन द्वारा एक पति के लिये एक समय में एक ही विवाह की व्यवस्था की गई है। यह वास्तव में नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से उचित है। स्त्रियों को समान अधिकार देने के लिये वैवाहिक प्रणाली में भी संशोधन करना चाहिये। परन्तु इस देश के कुछ अनुदार-दलीय हिन्दू इसका विरोध कर रहे हैं।

## प्रेम-विवाह

हमारे देश में विशेषतः हिन्दू समाज के अन्तर्गत सहस्रों की संख्या में जातियों तथा उपजातियों के कारण वैवाहिक प्रणाली में अनेक दोष आगये हैं। कुछ जातियों की संख्या इतनी कम है कि वे यदि स्वजाति या स्व-उपजाति में ही विवाह करना चाहें, तो ऐसा नहीं कर सकते। फिर माता-पिता अपनी परिपाटी, परम्परा तथा दृष्टिकोण से विवाह करते हैं, जो हमारे शिक्षित एवं तथाकथित सुसंस्कृत नवयुवकों व नवयुवतियों को पसंद नहीं। वे विश्वविद्यालय या कॉलेज में पढ़ने के समय ही प्रेम-पाश में बंध जाते हैं और जब माता-पिताओं को इसका ज्ञान होता है तो वे समाज की मर्यादा एवं कुल-मर्यादा के नाम पर उनके वैवाहिक बन्धनों में बाधक बनते हैं। इस प्रकार हमारे देश में एक बड़ी सामाजिक समस्या पैदा हो गई है।

क्या इस प्रकार के प्रेम-विवाह उचित हैं? क्या सदाचार की दृष्टि से ऐसा उचित है? सदाचार की दृष्टि से इस प्रकार के प्रेम-विवाह

उचित नहीं कहे जासकते; क्योंकि कॉलेज व विश्व-विद्यालयों में पढ़ने वाले युवक व युवतियां, विवाह के दायित्वों का विचार किये बिना, प्रेम-उपन्यासों व नाटकों से प्रेरणा प्राप्त कर, प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, जो, अधिकांश में, शारीरिक आकर्षण के कारण ही होता है। उसमें मानसिक तथा आत्मिक सामंजस्य नहीं होता। यदि समाज में सभी लोग इस प्रकार के विवाह करने लगें तो फिर कोई व्यवस्था नहीं रहेगी और ऐसे विवाहों में पवित्रता की भावना का अभाव होने से यह सम्भावना है कि वे विच्छेद भी आसानी के साथ कर लेंगे। अतः आवश्यकता तो इस बात की है कि समाज में प्रचलित वैवाहिक बुराइयों का निवारण कर स्वयंवर-विवाह की प्रथा स्थापित की जाय; स्वयंवर प्रणाली से हमारा प्रयोजन यह है कि माता-पिता अपने पुत्र-पुत्री के लिये कन्या-वर का चुनाव करने की उन्हें पूरी स्वतंत्रता देदें। परन्तु वे इस बात का पूरा ध्यान रखें कि ऐसा करते समय अज्ञानवश वे कोई निर्णय की गलती तो नहीं कर रहे हैं।

अल्प-कालिक विवाह जो एक या दो वर्ष के लिये होते हैं ( यदि इस अवधि में दोनों के सम्बन्ध ठीक रहते हैं, तो वे स्थायी रूप से विवाह कर लेते हैं अन्यथा उनका सम्बन्ध टूट जाता है ) भी उचित नहीं हैं।

ऐसे क्षणिक विवाहों में पति-पत्नी न सुखी रहते हैं और न वे अपने बालकों का यथोचित रूप से पालन ही कर सकते हैं। उन्हें सदैव यह चिन्ता रहती है कि न जाने कब पति या पत्नी परित्याग कर दे।

## विवाह-विच्छेद

हमारे देश में विवाह को एक पवित्र धार्मिक संस्कार माना गया है; वह स्त्री-पुरुष का आजीवन सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार हिन्दू-विधान में विवाह-विच्छेद को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। अन्य देशों में विवाह एक सामाजिक कृत्य माना जाता है। अतः अन्य सामाजिक

समझौतों की भांति विवाह को भी पति-पत्नी की इच्छा से भंग किया जासकता है।

सन् १९३७ में हिन्दू स्त्री अधिकार सम्बन्धी एक कानून भारतीय व्यवस्थापिका में स्वीकार किया गया। सन् १९४१ में सन् १९३७ के स्त्री सम्पत्याधिकार कानून के सम्बन्ध में उत्पन्न कठिनाइयों पर विचार करते हुए भारत सरकार के गृह-विभाग ने, हिन्दू विधान में संशोधन करने तथा उसे एक विधि (code) का रूप देने के लिये एक समिति नियुक्त की, जो राउ समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। १९ जून १९४१ को इसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। सन् १९४२ में इस समिति ने कानूनों के दो मसौदे तैयार किये, एक उत्तराधिकार पर और दूसरा विवाह पर। सन् १९४३ में व्यवस्थापिका में उत्तराधिकार बिल प्रस्तुत किया गया। इसके बाद हिन्दू कोड प्रकाशित किया। इस कोड के सम्बन्ध में समिति ने सारे देश में भ्रमण कर साक्षी ली और इस पर विद्वानों व संस्थाओं का मत लिया गया। अन्त में यह कोड बिल के रूप में अप्रैल १९४८ में भारतीय व्यवस्थापिका में कानून-मन्त्री डा० भीमराव अम्बेडकर, एम० ए०, डी० एससी०, बैरिस्टर ने प्रस्तुत किया और इस पर विचारार्थ एक विशेष समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने गत अगस्त १९४८ में अपनी रिपोर्ट दे दी। परन्तु भारतीय विधान परिषद (जो भारतीय व्यवस्थापिका भी है) की कांग्रेस पार्टी इस बात के विरुद्ध थी कि हिन्दू-कोड बिल व्यवस्थापिका में पेश किया जाय। प्रधान-मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के समझाने पर यह निश्चय हुआ कि यह बिल सन् १९४९ के बजट अधिवेशन में विचारार्थ रखा जायगा।

इससे प्रतिनिधियों की मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। अंग्रेजी सरकार को दोष दिया जाता था कि वह विदेशी सरकार है, इसलिये वह समाज-सुधार का प्रयत्न नहीं करती। परन्तु अब भारतीयों के हाथ में शासन सत्ता आगई है, तो भी सामाजिक सुधार के मार्ग में इस प्रकार

को बाधाएं डाली जाती हैं।

इस प्रस्तावित हिन्दू-विधान बिल में कुछ विशेष अवस्थाओं में हिन्दू स्त्री-पुरुष ( पति-पत्नी ) को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया है। निम्न-लिखित अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद किया जा सकता है:—

१. यदि पति या पत्नी का मस्तिष्क विकारपूर्ण है और प्रार्थना-पत्र देने के सात वर्ष पहले तक उसका उपचार होता रहा हो।

२. पति या पत्नी असाध्य एवं उग्र कुष्ठ रोग से पीड़ित है और उसे यह रोग प्रार्थी के सम्पर्क से नहीं हुआ।

३. किसी ने दूसरे को अकारण ७ वर्ष से छोड़ रखा है।

४. पति या पत्नी ने हिन्दू धर्म त्यागकर दूसरा धर्म ग्रहण कर लिया है।

५. पति या पत्नी किसी संक्रामक यौन व्याधि से पीड़ित है और वह रोग प्रार्थी के सम्पर्क से नहीं हुआ है।

६. पति कोई उपपत्नी रखे अथवा पत्नी किसी दूसरे पुरुष की उप-पत्नी हो।

७. यदि पत्नी व्यभिचारिणी हो।

हमारे विचार में यदि पति नपुंसक है और दाम्पत्य कृत्य का संपादन करने में पत्नी भी अयोग्य है, तो सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना चाहिये।

हिन्दू-कोड बिल में यह भी उल्लेख है कि निम्न-लिखित अवस्थाओं में किसी की प्रार्थना पर विवाह न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जासकता है:—

( १ ) विवाह के समय या मुकदमा दायर करने के समय प्रतिवादी नपुंसक था।

( २ ) हिन्दू विधान द्वारा निषिद्ध सीमा के भीतर विवाह हुआ है।

( ३ ) यदि सपिंडों में विवाह हुआ है ।

( ४ ) विवाह के समय दोनों में से कोई पागल था ।

( ५ ) दोनों में से किसी का पहले विवाह हो चुका था और पति या पत्नी मौजूद है ।

( ६ ) यदि विवाह के लिये अनुमति धोखा देकर ली गई है ।

इस प्रकार का कानून अवश्य ही प्रचलित हो जाना चाहिये । इससे समाज में प्रचलित अनीति का नाश होने में सहायता मिलेगी और स्त्रियों पर जो अनाचार-अत्याचार होते हैं, वे भी कम हो जायेंगे ।

अपने को सनातनी हिन्दू कहकर सत्य सनातन वैदिक धर्म के विरोधी इस प्रस्तावित विधान का विरोध कर रहे हैं । उनका यह कहना है कि इस प्रकार विवाह-विच्छेद के नियम से "हमारे देशाचार, कुलाचार, एवं लोकाचारों का, जो हमारे कानून के प्रधान आधार हैं, सर्वथा लोप हो जायगा ।.........हमारी नारी जाति का आर्यधर्म– सतीधर्म—जो हमारे समाज के लिये महान गौरव की वस्तु है तथा जिसके पीछे अभी कुछ ही शताब्दी पूर्व हमारी राजपूत रमणियों ने हजारों की संख्या में, एक बार और एक ही जगह नहीं अपितु कई बार और कई जगह, चिता की दहकती हुई अग्नि में अपने प्राणों का बलिदान किया था......केवल कथाशेष रह जायगा ‡"

आज का भारतीय महिला समाज अपनी मांगों और अधिकारों को भली भांति समझता है । वह अब इस प्रकार के आडम्बरपूर्ण वचनों से पथ-भ्रष्ट नहीं किया जासकता । नारी के सतीत्व के रक्षक उस समय कहां चले जाते हैं जब पतिदेव बिना किसी अपराध के अपनी सती स्त्री पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं; उसके होते दूसरी स्त्री ले आते हैं, अथवा रखैल रख लेते हैं; यही नहीं सारी रातें वेश्यालय में बिताते हैं

---

‡ प्रस्तावित हिन्दू कोड पर कुछ विचार : लेखक हनुमान प्रसाद पोद्दार कल्याण-संपादक ( गोरखपुर ) पृ० ११—१२

और सती की ओर से यदि इस पर कोई आपत्ति की जाती है, तो उस पर अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं। फलतः वे सती पत्नियां भी अवसर पाकर, अपने संयम का बांध तोड़कर, गुप्त व्यभिचार में तल्लीन हो जाती हैं, मनचले युवकों के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाती हैं, और बाजारों में वेश्याएं बनकर इन सतीधर्म के पुजारियों के मुख उज्ज्वल करती हैं। जिन्हें हमारे कथन की सत्यता का प्रमाण लेना हो, वे अपनी आंखें खोलकर अपने पारिवारिक जीवन की एक झलक देखें और जो प्रत्यक्ष ऐसा न कर सकें वे सुप्रसिद्ध लेखक तथा नारी-स्वातंत्र्य के परम समर्थक श्री रामरखसिंह सहगल के द्वारा सम्पादित 'चांद' पत्रिका ( प्रयाग ) की पुरानी फाइलें उलटकर देखें।

सत्य तो यह है कि यदि हिन्दू पति-पत्नी विवाह की पवित्रता का विचार कर अपने दाम्पत्य कर्तव्यों का नैतिक दृष्टि से यथोचित पालन करें, तो विवाह-विच्छेद के अवसर कम मिलेंगे। विवाह-विच्छेद स्वयं कोई रोग नहीं, वह तो रोग का एक लक्षण है। अतः इसका वास्तविक उपचार तो विवाह-पद्धति में आवश्यक सुधार, नारी-स्वातंत्र्य, एवं पुरुष-स्त्री के समान अधिकार तथा जीवन का सदाचारी बनाने से ही हो सकेगा। सतीत्व की दुहाई देते रहने तथा मोटे 'नारी-अंक' निकाल देने से कोई सुधार या लाभ नहीं हो सकता।

## विधवाओं का प्रश्न

हिन्दू समाज ने स्त्रियों को यहां तक पद-दलित किया कि उन पर बलपूर्वक सतीत्व का भार डाल दिया। पति के जीवन-काल में वे सती-धर्म का पालन करें और उसकी मृत्यु के बाद उन्हें बलपूर्वक चिता में जला दिया जाय और यदि ऐसे वे न जलें तो उन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा न देकर गुप्त व्यभिचार, पापाचार तथा वेश्या-जीवन की ओर अग्रसर किया गया। भारतवर्ष में बाल-विवाह का बड़ा प्रचार है। इस कारण

बाल-विधवाएं भी बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियों तथा वैश्यों में विधवाओं को चाहे, वे अक्षतयोनि कन्यावत् ही षोडशी क्यों न हों, उन्हें पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं, परन्तु पति महाशय पचास वर्ष के क्यों न हों, वे १२ वर्ष की कन्या से विवाह करने में भी लज्जित नहीं होते।

इस प्रकार अनमेल विवाह, बाल-विवाह, तथा वृद्ध-विवाह के कारण समाज में विधवाएं बड़ी शोचनीय दशा में हैं। इसका फल यह है कि वे गुप्त रूप से व्यभिचार करती हैं, नौकर-चाकरों से अपनी काम-तृप्ति करती हैं और समय पाकर वे भाग भी जाती हैं। वे वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती हैं। इस प्रकार समाज में पापाचार बढ़ता है।

हिन्दू-समाज के अन्तर्गत जो पिछड़ी जातियां अथवा दलित जातियां हैं, उनमें प्रायः अधिकांश जातियों में यद्यपि बाल-विवाह प्रचलित है तथापि उनमें विधवाओं के विवाह की प्रथा प्रचलित है। यही कारण है कि उनमें बहुत कम स्त्रिया वेश्यावृत्ति को ग्रहण करती हैं।

सदाचार का यह आदर्श है कि दाम्पत्य-जीवन में उन्हें पूर्णतः समान अधिकार हो और किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो। जो स्त्रियां अपनी इच्छा से ब्रह्मचारिणी रहना चाहें वे रहें; परन्तु जो पुनः विवाह करना चाहें, उन्हें इसकी स्वतंत्रता होनी चाहिये।

## वेश्यावृत्ति

यह सत्य है कि वेश्याएं प्रत्येक समाज में और प्रत्येक देश में रही हैं। प्राचीन भारत में भी वेश्याएं थीं और आज तो ये अधिक संख्या में विद्यमान हैं। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेश्याएं समाज का आवश्यक अंग हैं अथवा समाज में उनकी विद्यमानता परम आवश्यक है। वेश्याएं समाज पर एक महान नैतिक कलंक हैं। व्यक्ति आदि-काल से अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से आक्रान्त रहे हैं; तब इससे

यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि रोग व्यक्ति के स्वास्थ्य के अंग हैं अथवा व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं।

वेश्यावृत्ति प्राचीन होने पर भी एक सामाजिक दूषण है और समाज के सदाचार की रक्षा के लिये वेश्यावृत्ति का अन्त कर देना आवश्यक है। वेश्याएं क्यों होती हैं? इसके दो प्रधान कारण हैं: एक आर्थिक और दूसरा काम-सम्बन्धी। अधिकांश स्त्रियां अर्थ के लिये— धन के लिये इस पापाचार को ग्रहण करती हैं और ऐसी स्त्रिया अपेक्षाकृत कम हैं जो केवल काम-वासना की तृप्ति के लिये इस वृत्ति को अपनाती हैं।

यदि समाज में स्त्रियों को आर्थिक समता तथा स्वाधीनता प्राप्त हो जाय और साथ ही जो वैवाहिक बुराइयां प्रचलित हैं उनका विनाश कर दिया जाय, तो वेश्यावृत्ति का अन्त स्वतः हो जायगा।

परन्तु बड़े-बड़े 'सभ्य' तथा 'धनपति' जो कला-पारखी भी हैं, वे अपने विनोद व मनोरंजन के लिये कहां जायंगे तथा जो व्यवसाय या कार्य-वश अपनी स्त्री से काफ़ी समय से अलग हैं, वे क्या करेंगे, यह एक समस्या है, जो वेश्यावृत्ति के समर्थकों की ओर से पेश की जाती है। वे इसे श्रेष्ठ परिवारों के लिये एक कवच मानते हैं।

परन्तु यह आपत्ति निराधार है। ऐसे मनोरंजन-प्रेमियों को यह कल्पना करनी चाहिये कि यदि किसी पर-पुरुष के मनोरंजन के लिये उनकी पुत्री जाय, तो उन्हें लज्जा नहीं आयेगी। यह वास्तव में दुराचार की पराकाष्ठा है कि नारी अपनी जीविका के हेतु अपने शरीर की पवित्रता को कुछ पैसों के लिये बाजार में बेचे। इससे घृणित व्यवसाय और क्या होगा और इससे अधिक पापाचार क्या होगा कि नगर के सेठ, सभ्य कहलाने वाले रात्रि के समय नरक का द्वार खटखटायें और उनकी स्त्रियां अपने सुहाग पर दो आंसू बहायें।

सोवियट रूस ने नारी को पूर्ण समानता, स्वाधीनता और आर्थिक

स्वतंत्रता देकर इस महा-भयानक पापाचार का सर्वनाश कर दिया। फलतः सोवियट रूस में आपको आज एक भी वेश्या नहीं मिलेगी।

## नारी की आर्थिक स्वाधीनता

यह युग अर्थ प्रधान है। समाज में धर्म, सदाचार तथा तप-त्याग की अपेक्षा अर्थ का ही राज्य है। अतः इस व्यवस्था में स्त्रियों को केवल मात्र नागरिक या राजनीतिक स्वाधीनता दे देने से काम नहीं चलेगा। स्त्रियों को समान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार मिलने चाहियें। समाज में उनका पद पुरुषों से किसी प्रकार भी कम न हो। स्त्रियां स्वतंत्र रूप से धन्धे-व्यवसाय करें। परन्तु उन्हें अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव तथा शारीरिक योग्यता के अनुसार ही कार्य करने चाहियें। वे सुयोग्य अध्यापिका बनकर बालक-बालिकाओं की शिक्षा तथा पालन-पोषण का कार्य करें; वे स्वास्थ्य-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान व धात्री-कर्म में निपुणता प्राप्त करें; वे पाक-विज्ञान में, संगीत में, नृत्य में, साहित्य में, नाट्य-कला में, अभिनय में तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक विभागों में कार्य करें; वे कार्यालयों, मिल, कल-कारखानों में निरीक्षण आदि का कार्य करें; वे न्यायाधीश बनें, वे शिशु-शालाओं का संचालन करें। वे ग्राम-सुधार में भाग लें, वे देश-सेविका तथा स्वयं-सेविकाएं बनकर देश का महान कार्य कर सकती हैं, परन्तु यह सब कार्य करते हुए भी उन्हें अपना प्रधान कार्य—कर्तव्य न भूल जाना चाहिये; वह है—मातृत्व तथा शिशु-पालन। यदि हमारे देश की महिलाएं केवल हमारे देश में बालक-बालिकाओं को स्वस्थ तथा सदाचारी एवं श्रेष्ठ नागरिक बनाने का कार्य करें, तो भी राष्ट्र का महान उपकार होगा।

## जातपांत तथा अस्पृश्यता

हमारे समाज में अनेक दुर्गुण हैं, अनेक कुप्रथाएं हैं, परन्तु

सब से महान राष्ट्र-घातक प्रथा है जातपांत तथा उसके फलस्वरूप अस्पृश्यता। इन दोनों ने हमारी राष्ट्रीय एकता, सामाजिक संगठन तथा लोकतंत्र को नष्ट कर दिया है। क्या आज भारतीय जन यह दावा कर सकते हैं कि वे सामाजिक समानता का भोग करते हैं? क्या वे यह कह सकते हैं कि भारतीय समाज का आधार लोकतंत्र है? इसका उत्तर है 'नहीं'। क्योंकि समाज सहस्रों जातपात के टुकड़ों में बंटा हुआ है, उसमें एकता कैसे आसकती है। एक जाति अपने को दूसरी से श्रेष्ठ समझती है; इस प्रकार जहा ऐसी चार नहीं, चार हज़ार से भी अधिक जातियां हों, तो फिर उनमें बन्धुत्व व समानता कैसे पैदा होगी। राजनीतिक क्षेत्र में समान मताधिकार से यह सामाजिक एकता या समानता पैदा नहीं हो सकती। इसी जातपांत की उच्चता-निम्नता की भावना के फलस्वरूप अस्पृश्यता का जन्म हुआ, जिसके कारण शताब्दियों से छः करोड़ भारतीय नर-नारी समाज में 'अस्पृश्य' 'हरिजन' तथा 'अछूत' बने हुए हैं और आज भी, भारत में स्वाधीन शासन की स्थापना के दो वर्ष के बाद भी, अस्पृश्यता मिट नहीं सकी।

महात्मा गाधी ने, जो मानवता के एक आदर्श पुजारी थे, यह अनुभव किया कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म पर एक कलंक है और उन्होंने सन् १६१६ से ही इस प्रश्न को हल करने के लिये अपनी, राष्ट्रीय-कांग्रेस तथा देश की शक्ति को लगा दिया। यह उनके त्याग, बलिदान तथा सद् प्रयत्न का ही फल है कि आज हमारी विधान-परिषद् ने अस्पृश्यता के अन्त करने की घोषणा करदी है और किसी भी रूप में उसके व्यवहार को कानून विरुद्ध माना है। बम्बई, मद्रास, यू० पी०, बिहार, सी० पी० आदि प्रान्तों की धारा-सभाओं ने भी सामाजिक अयोग्यता निवारक कानून स्वीकार कर दलित जातियों के सदस्यों को समान नागरिक अधिकार प्रदान कर दिये हैं। यह वास्तव में इस शताब्दी का सब से महान नैतिक सुधार है। परन्तु आवश्यकता यह है

कि समाज—जनता व्यवहारिक रूप में इस कुप्रथा को समूल नष्ट करदे। केवल कानून बन जाने से ऐसा नहीं होगा। इसके लिये राज्य को तो पूरा-पूरा प्रयत्न करना ही चाहिये; परन्तु जनता में भी 'हृदय-परिवर्तन' की आवश्यकता है। इसके लिये समस्त नेताओं तथा समाज-सुधारकों को ध्यान देना चाहिये।

## भिक्षुकों की समस्या

हमारे देश में भिक्षुकों की समस्या भी बड़ी जटिल है। अस्पृश्यता, जातपात आदि की भांति इसे भी धार्मिक रूप दे दिया गया है। ब्राह्मणों का धर्म था ( अथवा कहना चाहिये वैदिक युग में था ) वेदों का पठन-पाठन करना; यज्ञादि सत्कर्म करना और जनता से अपनी जीविका के हेतु दान ग्रहण करना। इस नियम के अनुसार ब्राह्मण को दान लेने का अधिकार था। कालान्तर में ब्राह्मण विद्या-दान के कर्तव्य को तो भूल गया, परन्तु उससे जो अधिकार जुड़ा हुआ था, उसे आज भी अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानता है। इस प्रकार ब्राह्मण, चाहे वह और कोई व्यवसाय करता हो, कम से कम अमावस्या और पूर्णिमा को भिक्षा लेना अपना कर्तव्य समझता है। परन्तु ऐसे भी ब्राह्मण एक बड़ी संख्या में हैं, जिनकी जीविका का साधन भिक्षा-वृत्ति है। वे इसे अपना पैतृक व्यवसाय मानते हैं। इनके अतिरिक्त, वे मन्दिरों, तीर्थ-स्थानों तथा मठों में पंडे, पुजारी तथा पुरोहितों के रूप में जनता के धन से पोषण पाते हैं। साधु-सन्यासी के रूप में लाखों की संख्या में भिक्षुक इस देश में हैं। उनका एकमात्र व्यवसाय भिक्षा-वृत्ति ही है।

भिक्षा-वृत्ति वास्तव में एक नैतिक बुराई है। मनुष्य का यह धर्म है कि वह अपने पोषण के लिये अपने श्रम से धन पैदा करे और उससे जीविका अर्जित करे। प्रत्येक स्वस्थ और प्रौढ़ नर-नारी को राज्य की ओर से काम मिलना चाहिये और उसके लिये यथेष्ट पारिश्रमिक। जो

अपाहिज हैं—अंधे, लूले, बहरे, गूंगे तथा कोढ़ी—उनको राज्य की ओर से सहायता मिलनी चाहिये और उनके लिये आश्रम स्थापित किये जाने चाहियें। भिक्षा-वृत्ति की समस्या का समुचित हल राज्य को करना चाहिये। भिक्षा-वृत्ति को अपराध घोषित कर दिया जाय। जो वास्तव में सच्चे सन्यासी व साधु हैं, वे आश्रम में रहें और वहीं उनके भोजन, वस्त्रादि का प्रबन्ध जनता की समिति द्वारा कर दिया जाय।

---

बीसवां अध्याय

# राजनीति और सदाचार

"संसार में जो भयंकर भूल हुई है, वह राजनीति से नीति-विज्ञान का अलग कर देना है।" —शैली

## राज्य और शासन

राज्य का प्रादुर्भाव मानव-समाज के कल्याण के लिये ही हुआ है। राज्य का आधार शक्ति है और इस शक्ति के कारण ही वह समाज में न्याय तथा व्यवस्था को कायम रखता है। समाज में सभी व्यक्ति न्याय प्रिय, सच्चे तथा परोपकारी नहीं होते। मानव में जहां उदात्त एवं उच्च नैतिक भावनाएं हैं, वहां स्वार्थपूर्ण भावनाएं भी हैं। अतः यदि ऐसे स्वार्थ-पारायण व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहे, तो वे श्रेष्ठ, सदाचारी तथा परमार्थी जनों के लिये बड़े संकट का कारण बन जायेंगे। यदि समाज में सब व्यक्ति सच्चे, सत्यवादी, अहिंसक, दयालु, परमार्थी, परोपकारी और दूसरे के अधिकारों का आदर करने वाले हों, तो फिर उन्हें राज्य-शासन की आवश्यकता नहीं, परन्तु ऐसे आदर्श समाज में भी नैतिक अधिकारों के प्रश्न पर परस्पर संघर्ष हो सकता है और उसके निर्णय के लिये कोई उच्च सत्ता होनी चाहिये। वास्तव में यह सर्वोच्च सत्ता ही उनकी समुचित व्यवस्था कर सकेगी। आप इसे 'पंचायत' कहें, 'सरकार' कहें या कोई और नाम दें। अराजकतावादी शासन की आवश्यकता नहीं मानते, परन्तु उनकी यह मान्यता किसी प्रकार भी न

तो मानव-विज्ञान, न इतिहास और न नीति-विज्ञान से ही सिद्ध है। हमारा समाज नैतिक दृष्टि से चाहे जितना उच्च शिखर पर क्यों न पहुँच जाय, उसके सदस्यों का चाहे जितना पूर्ण नैतिक विकास क्यों न हो जाय, हम किसी ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते जब कि समाज को राज्य-शासन की आवश्यकता न हो। सोवियट रूस के महान सुधारक तथा आधुनिक सरकारों के प्रमुख आलोचक महात्मा टॉलस्टॉय ने सरकार की तीव्र आलोचना की है। उनका यह अभिमत है :—

"केवल सैनिक सरकारें ही नहीं किन्तु सभी सरकारें उपयोगी नहीं तो कम से कम ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनसे हानि न पहुंचे, यदि वे शुद्ध अन्तःकरण वाले लोगों व धर्मात्मा पुरुषों की ही बनी हुई हों; जैसा कि चीनियों के बारे में ख्याल किया जा सकता है। परन्तु ये सरकारें, जैसा कि उनके कार्य से ( जिसमें बल-प्रयोग अथवा हिंसा के काम शामिल हैं ) विदित होता है, हमेशा ऐसे लोगों की बनी होती हैं, जो अन्तःकरण की शुद्धता और पवित्रता का नाम तक नहीं जानते—जो सर्वथा निरंकुश, अविवेकशील और पतित मनुष्य हैं। इसलिये सरकार, विशेषकर ऐसी सरकार जिसके हाथ में सैनिक शक्ति हो, एक महान खतरनाक संगठन है।" ‡

महात्मा टॉलस्टॉय आगे इसी प्रसंग में लिखते हैं :—

"लोगों पर अत्याचार और बल-प्रयोग करने वाली राजकीय संस्था के विनाश के मानी यह नहीं है कि उसके साथ-साथ वे सभी बातें भी चली जायंगी, जो अच्छी हैं। कानून, न्यायालय, सम्पत्ति, पुलिस, साम्पत्तिक व्यवस्था, तथा सार्वजनिक शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली वे सारी बातें रहेंगी, जिनका आधार पशु-बल नहीं है।" †

---

‡ टॉलस्टॉय : सामाजिक कुरीतियां ( हिन्दी अनुवाद )
श्री माधव प्रसाद मिश्र (१९४७) पृ० १०९–११०

† टॉलस्टॉय : सामाजिक कुरीतियां (१९४७) पृ० १२१

राज्य स्वयं दूषित संस्था नहीं है। वह समाज के व्यक्तियों द्वारा निर्मित राज्य-संगठन है। व्यक्तियों तथा नागरिकों की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता पर ही राज्य की श्रेष्ठता या निकृष्टता निर्भर है। जिस राज्य में व्यक्ति जितने चरित्रवान, सदाचारी और विद्वान होंगे, उसमें राज्य-शासन भी उतना ही श्रेष्ठ होगा। अतः राज्य का नीति-विज्ञान अथवा सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस राज्य का आधार सदाचार नहीं, उसमें प्रजा का सार्वजनिक अभ्युदय अथवा कल्याण कदापि सम्भव नहीं। वहां राज्य कभी न्याय की व्यवस्था नहीं कर सकेगा; समाज में अत्याचार, पापाचार और दुराचार की वृद्धि होगी।

राज्य की उत्पत्ति प्रजा-रंजन के लिये हुई है और यदि राज्य प्रजा—समस्त जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कल्याण और अभ्युदय के लिये प्रयत्न नहीं करता तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है।

## शासन और अहिंसा

राज्य-शासन का कार्य है प्रजा का सार्वजनिक हित एवं कल्याण। परन्तु इसके लिये शासन को राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना अनिवार्य है। देश में आन्तरिक शान्ति तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा करना उसका सब से महान कर्तव्य है। इस कार्य को वह बिना शक्ति या बल के संपादन नहीं कर सकता। यदि यह मान लिया जाय कि राज्य इतना आदर्श है कि आन्तरिक अशान्ति की कोई सम्भावना नहीं, तब भी ऐसे आदर्श राज्य की दूसरे आक्रमणकारी राज्यों से रक्षा करने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अतः सैन्य-बल की आवश्यकता है। बिना सैन्य-बल के शासन अपना कार्य समुचित रीति से नहीं कर सकता।

न्याय-व्यवस्था के लिये दण्ड की भी आवश्यकता होगी; फिर समाज में जो अत्याचारी, पापी, अपराधी तथा दोषी हैं, उनसे सदाचारी

विद्वानों तथा श्रेष्ठ नागरिकों की रक्षा के लिये पुलिस की आवश्यकता होगी। यह सब शक्ति और बल हैं। राज्य को यह उचित है कि वह शक्ति-बल का प्रयोग ऐसे ढंग से करे कि शान्ति व व्यवस्था में कम से कम बल का प्रयोग किया जाय जिससे कम से कम हिंसा हो।

यदि राज्य न्याय की रक्षा के लिये बल-प्रयोग करता है, तो उसे हिंसा नहीं कहना चाहिये। आतंकवादी जो अपने हाथ में पिस्तौल लेकर एक शान्ति-प्रिय नागरिक पर आक्रमण करने चला आ रहा है, यदि वह नागरिक सचेत होकर पहले से अपनी बन्दूक से गोली दाग़ देता है और फलस्वरूप वह आततायी मर जाता है, तो इसे हिंसा नहीं कहा जायगा। वह आत्मरक्षा के उद्देश्य से बल-प्रयोग करता है, इसलिये यह हिंसा नहीं।

## कूटनीति और सदाचार

राज्य के कार्यों की प्रकृति ऐसी है कि शासन को अपने कार्यों में गोपनीयता रखनी पड़ती है, यदि वह ऐसा न करे तो समाज में व्यवस्था व शान्ति के लिये महान संकट पैदा हो जाय। शासन अपने कार्यों को राजकीय नीति की रक्षा के लिये कभी गोपनीय रखता है, तो कभी उन्हें विज्ञापित करता है और ऐसे भी अवसर आते हैं जब वह अपने मन्तव्यों को वास्तविक रूप में व्यक्त न कर उन्हें ऐसे रूप में रखता है कि विरोधियों को उनका समुचित ज्ञान हो सके। अतः राज्य-शासन जब कूटनीतिक कर्मों का संपादन करता है, तब वह अहिंसा तथा सत्य का पालन नहीं करता।

राजदूतावास प्राचीन क्या अर्वाचीन काल में बड़े बड़े षड्यन्त्रों तथा प्रपंचों के केन्द्र होते हैं; युद्ध-विग्रह के सभी प्रश्नों का निर्णय मंत्री-मण्डल नहीं, प्रत्युत राजदूत करते हैं। भारत के ऐतिहासिक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानामात्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में कूटनीति

पर बड़े ही विशद रूप में विवेचन किया है, जिससे स्पष्ट प्रमाणित है कि यह कार्य कैसा प्रपंच-पूर्ण है। राजदूतावास में प्रायः ऐसे ही व्यक्तियों को स्थान दिया जाता है, जो छल-प्रपंच तथा प्रतारणा में अधिक पारंगत होते हैं। राजदूत शायद ही कभी सत्य भाषण करते हों। उनका आन्तरिक उद्देश्य यदि लन्दन जाने का होगा, तो वे कलकत्ता जाने का विज्ञापन करेंगे। अशान्ति के दूत होते हुए भी वे सदैव विदेशों में शान्ति, प्रेम, सहयोग और मानवता के आदर्श की चर्चा कर अपने वास्तविक उद्देश्यों पर आवरण डालने की चेष्टा करते हैं। ‡

## प्रजा का क्रान्ति करने का अधिकार

आदर्श राज्य का आधार समस्त प्रजा की सामान्य आकांक्षा ही है। राज्य को शासन-सत्ता प्रजा द्वारा प्राप्त है और वास्तव में सर्वोच्च सत्ता अथवा प्रभुत्व प्रजा में निहित है। अतः जिस उद्देश्य से प्रजा शासन की स्थापना करती है, उस उद्देश्य का पालन करने में कोई शासन भूल करता है या उपेक्षा करता है और फलतः जनता में अत्याचार होते हैं तो प्रजा का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे शासन को परवर्तित कर दे और उसके स्थान पर ऐसा शासन स्थापित करे, जो समस्त प्रजा की आकांक्षा के अनुकूल हो। शासन का आधार सत्ता है; उसके पास सैनिक शक्ति होती है; इसलिये अहिंसात्मक उपायों से शासन में परिवर्तन करना

‡ आधुनिक काल में राजदूत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा संयुक्त राष्ट्र-परिषद् (United Nations Organization) के अधिवेशनों में, पैरिस व न्यूयॉर्क में, अपनी शान्तिप्रियता का विज्ञापन करते हैं; बड़े-बड़े भोजों तथा प्रदर्शनियों में विश्व-शान्ति, सहयोग और मानवता की रक्षा के गीत गाते नहीं थकते और अब तो राजदूत कला तथा साहित्य की प्रदर्शनियों का भी आयोजन कर अपनी कलाप्रियता का परिचय देते हैं और देश की आध्यात्मिक प्रगति से प्रभावित होने की चर्चा करते हैं।

शक्य नहीं। जहां पूर्ण प्रजातन्त्र शासन स्थापित है, वहां तो साधारण-तया शासन में परिवर्तन निर्वाचकों के मताधिकार पर निर्भर होता है और पार्लियामेंट के निर्वाचन के समय बिना किसी क्रान्ति के ऐसा हो जाता है; उदाहरणार्थ सन् १९४०-४५ तक इंगलैण्ड में अनुदार-दल के नेता चर्चिल की सरकार थी। परन्तु जुलाई १९४५ में साधारण निर्वाचन के फलस्वरूप उसका पतन होगया और उसके स्थान पर समाजवादी-दल—ब्रिटिश मजदूर-दल का शासन स्थापित हो गया। परन्तु जहां ऐसी प्रणाली नहीं है अथवा जहा फैसिस्ट स्वेच्छाचारी या कुलीनतन्त्रीय शासन-प्रणाली है, वहां शासन-परिवर्तन शान्तिपूर्वक नहीं होता; अतः ऐसे देशों में प्रजा को सेना तथा पुलिस के सहयोग से सशस्त्र क्रान्ति करनी पड़ती है; यह क्रान्ति रक्तपातपूर्ण भी हो सकती है और रक्तहीन भी। सन् १९१७ में रूस में सोवियट जनक्रान्ति सशस्त्र क्रान्ति होते हुए भी रक्त-हीन क्रान्ति थी।

## युद्ध और सदाचार

राज्य या शासन का एक प्रमुख उद्देश्य है विदेशी आक्रमण से देश-रक्षा। यह कार्य समाज-रक्षा के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब कोई साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी देश पर आक्रमण करता है, तब उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी रक्षा के लिये धर्म युद्ध करे। प्रायः यह देखा गया है कि सबल तथा सैनिक राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों पर आक्रमण करते हैं और उन पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। जिस प्रकार राज्य में सभी नागरिकों को समानता के साथ अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करने को अधिकार है, उसी तरह समस्त राष्ट्रों को यह अधिकार है कि वे सब से मैत्री के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार करें; किसी के राज्य पर बलपूर्वक आधिपत्य जमाने की चेष्टा न करें। आज संसार में प्रत्येक राष्ट्र की स्वाधीनता का अधिकार स्वीकार किया जा चुका है; परन्तु फिर

भी साम्राज्यवादी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहते हैं और यही आजकल युद्ध का प्रमुख कारण है। यूरोप के सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र एशियायी राष्ट्रों को अपने अधिकार में रखना चाहते हैं अर्थात् वे अपने साम्राज्यों को कायम रखना चाहते हैं; परन्तु उनके साम्राज्यों की जनता उनके प्रति विद्रोह कर स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। ब्रिटिश सरकार ने भारत, लंका, ब्रह्मदेश को गत वर्ष (१९४७) में स्वाधीनता देकर एक ऐसा कार्य किया है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका गौरव बढ़ गया है; परन्तु अभी मलय देश, चीन में हांगकांग और कुछ द्वीपों तथा अफ्रीका के कुछ भागों पर उसका आज भी अधिकार है।

सन् १९१४—१८ का युद्ध "विश्व में लोकतंत्र की सुरक्षा के लिये युद्ध" माना गया था। संसार को यह आशा थी कि पृथ्वीतल पर प्रत्येक भाग में लोकतंत्र तथा स्वाधीनता की स्थापना हो जायगी। इस उद्देश्य से 'राष्ट्रसंघ' की स्थापना की गई और युद्ध को नैतिक दृष्टि से निन्दनीय माना गया; उसे राष्ट्रीय नीति का अंग नहीं माना गया। परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। अतः जर्मनी और ब्रिटेन में सन् १९३९ में पुनः युद्ध छिड़ गया, जिसने विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण कर लिया।

सन् १९४५ में यह युद्ध समाप्त हुआ और इससे पूर्व ही "संयुक्त राष्ट्र" की स्थापना विश्व में शान्ति की सुरक्षा तथा राष्ट्रों में परस्पर सहयोग की वृद्धि के लिये की गई। इस संस्था के अन्तर्गत खाद्य, स्वास्थ्य, आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति, श्रमिक-कल्याण, व्यापार-वाणिज्य, यातायात, शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में सहयोग के लिये विविध परिषदें कार्य कर रही हैं। इस प्रकार एक ओर जहां संसार के राष्ट्रों में परस्पर सहयोग की भावना में अभिवृद्धि हो रही है, वहा राष्ट्रों में परस्पर राजनीतिक मतभेद भी अधिक उग्र होते जारहे हैं और फलतः तृतीय विश्य-युद्ध के लिये तैयारियां होरही हैं। इस प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियां भी अपना बुरा प्रभाव डाल रही हैं।

यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि युद्ध-काल में समस्त राष्ट्रों में औद्योगिक, व्यापारिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में महान् और आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। युद्ध में संहार करने के उद्देश्य से नये नये और अधिक कारगर अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार किया जाता है। यदि इतनी प्रगति शान्ति के लिये की जाय तो संसार की जनता का कितना कल्याण हो।

युद्ध से संसार में न कभी जन-कल्याण हुआ और न आर्थिक विकास ही हुआ। युद्ध सभी दृष्टियों से हानिकारक है। जन-संहार तो होता ही है; परन्तु जो जनता बच रहती है वह अनेक भयंकर रोगों के प्रकोप, दुर्भिक्ष, अन्नाभाव तथा बेरोज़गारी के कारण अत्यधिक पीड़ित होती है। सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और उसे प्रायः १० वर्ष होगये। युद्ध को शान्त हुए भी पांच वर्ष व्यतीत होगये; परन्तु आज भी प्रत्येक देश में घोर आर्थिक-संकट परिव्याप्त है; जनता बेकारी, अन्न-वस्त्र की न्यूनता तथा नाना-प्रकार के रोगों के कारण दुःखी है।

हमारा यह स्पष्ट मन्तव्य है—धारणा है कि संसार के राष्ट्रों में सच्ची सहकारिता तथा प्रेम उसी समय उत्पन्न होगा जब कि संसार के सबल राष्ट्रों में मानवता के कल्याण के लिये सम्मान पैदा होगा और वे संसार में विश्व-विजेता बनने के स्वप्न को तिलांजलि दे देंगे। छोटे राष्ट्र तो युद्ध के अयोग्य होते हैं; और यदि वे परस्पर लड़ते भी हैं, तो बड़े राष्ट्रों के संकेत पर या उनके द्वारा सहायता मिलने पर। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधान का आधार सदाचार (नैतिकता) होना चाहिये और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों व संस्थाओं में प्रत्येक देश के शान्तिवादी विद्वानों, प्रोफेसरों, दार्शनिकों, शिक्षकों आदि को (राजदूतों व राजनेताओं को नहीं) भाग लेने की सुविधा दी जाय। जब तक संयुक्त राष्ट्रों का संचालन राजदूतों

व वैदेशिक मंत्रियों के हाथ में रहेगा, तब तक विश्व-शान्ति की स्थापना में हमें कोई सफलता नहीं मिलेगी। अतः प्रत्येक देश के मंत्री-मण्डल में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व शान्ति के लिये कार्य करने के लिये एक सचिवागार होना चाहिये और एक मंत्री उसके लिये उत्तरदायी हो। इसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का मंत्री कहा जाय और यह वैदेशिक विभाग से सर्वथा पृथक् हो। यह मंत्री देश के प्रसिद्ध शान्तिवादी विचारकों, विद्वानों व दार्शनिकों में से नियुक्त किया जाय और वही अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रतिनिधित्व करे अथवा प्रतिनिधि-मण्डल भेजने की व्यवस्था करे। इस प्रकार यदि कालान्तर में विश्व-शान्ति की रक्षा का कार्य राजदूतों के हाथों से वापिस ले लिया जाय, तो हमें संसार में शान्ति स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता मिल सकेगी।

## अनिवार्य सैनिक-सेवा और शान्तिवाद

राज्य के नागरिकों का यह परम कर्तव्य है कि राज्य पर कोई आक्रमण करे या उस पर आक्रमण की तैयारी करे, तो समस्त नागरिक उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझें। इसी कारण कुछ राज्यों के विधानों में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है कि समस्त नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे राज्य की रक्षा के लिये सदव सन्नद्ध रहें। सोवियट विधान में अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम है। सोवियट लाल-सेना में सैनिक-सेवा सोवियट नागरिकों का एक सम्माननीय कर्तव्य है। † जब राज्य पर बाहरी कोई संकट हो, तो उसके निवारण के लिये समस्त नागरिकों को सेवा करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। अतः राज्य को अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम बनाना सर्वथा उचित है; परन्तु उसे

† Article 132. Universal Liability to Military Service in the law: Military Service in the Workers' and Peasants' Red Army represent an honourable obligation of the Citizens of U. S. S. R——U. S. S. R. Constitution (1936)

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो वास्तव में सिद्धान्ततः शान्तिवादी हैं, उन्हें अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता दे दी जाय। परन्तु यह स्वतंत्रता ऐसी हो कि उससे राष्ट्र के युद्ध संचालन में कोई बाधा न पड़े। छोटे राष्ट्रों के लिये यह प्रायः कठिन ही होता है कि वे शान्तिवादियों को इस प्रकार की स्वतंत्रता दें।

## राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति एक नैतिक भावना है, जो प्रत्येक देशवासी के लिये गौरव की बात है। अपनी मातृभूमि, पितृदेश अथवा स्वराष्ट्र के लिये जनता में अपूर्व अनुराग, प्रेम और भक्ति-भाव का होना स्वाभाविक है। देशभक्ति की भावना देश-रक्षा के लिये ही नहीं वरन् देश की सार्वजनिक उन्नति के लिये भी परम आवश्यक है। देशभक्ति के नाम पर देश की जनता बड़े से बड़ा बलिदान एवं आत्म-त्याग करने में संकोच नहीं करती। इस प्रकार सच्ची देशभक्ति की भावना से प्रजा में, नागरिकों में मानवीय सर्वोच्च भावनाओं का विकास होता है; उनमें बन्धुत्व, सहयोग, परोपकार तथा देश-हितैषिता की भावना पैदा होती है। इस प्रकार मानववादी राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति अखिल जगत में बन्धुत्व की स्थापना में योग देती है; वह किसी दूसरे के राज्य पर आधिपत्य जमाना अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना करना मानवता के विरुद्ध मानती है।

परन्तु उग्र राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति के लिये खतरा है। उग्र राष्ट्रीयता, देशभक्ति के नाम पर, अपने देशवासियों को दूसरे देश पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहन देती है। वह अपने राष्ट्र को सर्वोच्च समझती है और दूसरे देशों पर शासन करना अपना पवित्र दायित्व अथवा अधिकार मानती है। इटली में फैसिज़्म तथा जर्मनी में नात्सीवाद का उदय उग्र देशभक्ति की भावना के ही परिणाम थे। उग्र राष्ट्रीयता

कालान्तर में साम्राज्यवाद में परिणत हो जाती है। इस प्रकार देश में ही नहीं, संसार में वह अशान्ति पैदा करती है। महात्मा टॉलस्टॉय ने इसी उग्र देशभक्ति की तीव्र निंदा की है। वे लिखते हैं:—

"युद्ध से समाचार-पत्रों को बहुत बड़ी आय होती है और दूसरे व्यवसायों को भी लाभ पहुंचता है। प्रत्येक लेखक, अध्यापक व प्रोफेसर जितना ही अधिक स्वदेश-प्रेम की शिक्षा देता है उतना ही अधिक वह सुरक्षित रहता है। प्रत्येक महाराजा व सम्राट को उतनी ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त होती है जितना अधिक वह स्वदेश-प्रेम का आश्रय लेता है।

"शासकों के हाथ में सेना, रुपया-पैसा, स्कूल, गिरजा तथा प्रेस सभी कुछ होता है। स्कूलों में वे बच्चों के भीतर इस स्वदेश प्रेम की आग उन इतिहास की पुस्तकों द्वारा उत्पन्न करते हैं जिनमें अपने ही देश के लोगों को ससार भर के मनुष्यों से उत्कृष्ट तथा सत्पथगामी बतलाया गया है। युवकों के भीतर वे इसे प्रदर्शनियों, बड़े बड़े उत्सवों, समारोहों, स्मारकों तथा मिथ्या-भाषण-पटु, स्वदेश-प्रेम की डींग मारने वाले समाचार-पत्रों और पुस्तकों के द्वारा भरते हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेश-प्रेम की ज्वाला धधकाने की एक और बड़ी अच्छी युक्ति है। पहले दूसरे राष्ट्रों के साथ हर तरह का अन्याय, सख्ती करके उनमें अपने ही लोगों के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न किया जाता है और फिर इस वैरभाव की सहायता से स्वयं अपने लोगों को विदेशियों के विरुद्ध भड़काते हैं और उनमें शत्रुता के भाव भरते हैं।" *

इस प्रकार मानववादी राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व शान्ति की अभिवृद्धि करती है; वह संसार में सच्चे मानव-समाज को जन्म देती है और उनमें समानता, बन्धुत्व तथा स्वतंत्रता के भावों का उदय करती है।

* टॉलस्टॉय : सामाजिक कुरीतियां (१९४७) पृ० १०२

## वर्ण-विद्वेष

वर्ण-विद्वेष उग्र राष्ट्रीयता का ही एक दूषित परिणाम है जिसके कारण लोकतंत्र की प्रसिद्ध भूमि अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया में काली जातियों पर गोरी जातियों द्वारा अत्याचार हो रहे हैं। गोरी जातियां यह समझती हैं कि संसार में उनका जन्म रंगीन जातियों पर शासन करने के लिये हुआ है। दक्षिणी अफ्रीका में गोरों द्वारा प्रवासी भारतीयों पर अर्द्ध शताब्दी से अन्याय-अत्याचार हो रहे हैं— उन्हें न मताधिकार प्राप्त है और न समान नागरिक अधिकार। वे धारासभाओं में अपने प्रतिनिधि भी नहीं भेज सकते। यह वास्तव में घोर अनैतिकता है और है निकृष्ट कोटि का दुराचरण। इस वर्ण-विद्वेष की भावना के कारण ही गोरी जातियों में साम्राज्यवाद की भावना पुष्टि प्राप्त कर चुकी है। नात्सी जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचार, अमेरिका में नीग्रो जाति पर अमानुषिक अत्याचार तथा अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों पर अन्याय वर्ण-भेद के बड़े दूषित उदाहरण हैं। संसार में शान्ति के लिये वर्ण-भेद का मिट जाना भी आवश्यक है।

इस समय संसार में गुप्त रूप से गोरी तथा रंगीन जातियों में एक भयानक युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इस दिशा में नियमित रूप से कार्य हो रहा है।

संसार में एशिया और अफ्रीका—ये दो महाद्वीप रंगीन जातियों से बसे हुए हैं। इन दोनों पर अमेरिका तथा यूरोप की गोरी जातियों का आधिपत्य रहा। एशिया का भाग्योदय हुआ और जापान ने अपनी राष्ट्रीय प्रगति पाश्चात्य देशों के मुकाबले में की। जब चीन को भाग्योदय का अवसर मिला, तो वह गृह-युद्ध की धधकती ज्वाला में गिरा दिया गया; जापान का द्वितीय विश्व-युद्ध में पतन हो गया। चीन साम्यवादी आधिपत्य में आ चुका है, ब्रह्मदेश में भी गृह-युद्ध जारी है।

हिन्देशिया तथा हिन्दचीन व मलाया में भी साम्राज्यवादी गोरी जातियों का अभिशाप अपने दुष्परिणाम दिखला रहा है। अब हमारा देश ही ऐसा है जो एशिया का नेतृत्व कर सकता है; परन्तु वह भी अभी साम्राज्यवाद के चंगुल से बाहर नहीं निकल सका है। साम्राज्यवादियों की यह आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी प्रकार भारत भी ऐसी उलझनों में पड़ा रहे कि वह अपनी आर्थिक व सामाजिक प्रगति न कर सके, वरना एक दिन एशिया संसार की गोरी सभ्यता के लिये चुनौती देगा।

---

इक्कीसवाँ अध्याय

# समाजवाद और सदाचार

हमारे देश में साधारण जनता में ही नहीं, विद्वानों में भी यह धारणा जमी हुई है कि समाजवाद ईश्वर का विरोधी तो है ही, साथ में वह सदाचार का भी विरोधी है। अनेक लोग तो दुराचार और समाजवाद को पर्यायवाची समझते हैं। परन्तु इस प्रकार की धारणा अज्ञान-मूलक है। जिन्होंने न समाजवाद के सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा की है और न जो सोवियट रूस में समाजवाद के परीक्षण का निष्पक्ष-ज्ञान प्राप्त कर सके हैं, वे इस प्रकार के मिथ्या-विचार को अपने मन में स्थान दिये हुए हैं।

वास्तव में सत्य तो यह है कि समाजवाद—सच्चा समाजवाद न धर्म का विरोधी है और न सदाचार का।

## लेनिन द्वारा समाजवादी सदाचार की व्याख्या

सोवियट क्रान्ति के प्रधान नेता लेनिन ने २ अक्टूबर १९२० को अखिल रूसी युवक साम्यवादी परिषद के तृतीय अधिवेशन के समक्ष अपने भाषण में समाजवादी सदाचार पर इस प्रकार व्याख्या की:—

"किन्तु प्रश्न यह है कि क्या साम्यवादी सदाचार नाम की कोई वस्तु है? क्या साम्यवादी सद्विचार शास्त्र नामक कोई शास्त्र है? अवश्य ही है। प्राय: ऐसा कहा जाता है कि मानो हमारे लिये कोई सदाचार ही न हो और प्रायः पूंजीवादी वर्ग हम साम्यवादियों पर यह

दोष लगाया करता है कि हम सब तरह के सदाचार को अस्वीकार करते हैं। ऐसी बातें करना धारणाओं के साथ खेल खेलना तथा मजदूर व किसानों की आंखों में धूल झोंकना है। हम किस अर्थ में सदाचार को अस्वीकार करते हैं? उस अर्थ में जिस अर्थ में पूंजीवाद उसका प्रचार करता है, जो ईश्वरीय आज्ञाओं से सदाचार को प्राप्त करता है। हम अवश्य ही यह बात कहते हैं कि हम ईश्वर पर विश्वास नहीं करते और हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि पुरोहित वर्ग, जमींदार-वर्ग तथा पूंजीवादी-वर्ग ईश्वर के नाम पर अपने शोषण-सम्बन्धी स्वार्थों की ओर से ही बोला करते हैं। इन लोगों में से कुछ ऐसे भी हैं जो सदाचार-सम्बन्धी ईश्वरीय आज्ञाओं से सदाचार के नियमों को प्राप्त करने के स्थान पर भाववादी या अर्द्ध भाववादी वाक्यों से अपनी सदाचार-पद्धति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सदाचार का प्रायः वही रूप हो जाता है जो ईश्वरीय आज्ञाओं से प्राप्त सदाचार का होता है। हम ऐसे सब सदाचारों को अस्वीकार कर देते हैं जो अमानवीय धारणाओं से प्राप्त किये गये हैं।........

"अतः हमारे लिये मानव-समाज के अतिरिक्त और कोई सदाचार नहीं है, शेष धोखा है। हमारे लिये शोषित-वर्ग की वर्ग-संघर्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति सदाचार है। हम अपने साम्यवादी सदाचार के सामने इसी कर्तव्य को रख देते हैं। हम कहते हैं सदाचार वही है जो प्राचीन शोषक समाज को नष्ट करने में तथा शोषित-वर्ग के चारों ओर सब श्रमजीवियों को जमा कर एकता में बद्ध करने में यानी एक नवीन साम्यवादी समाज के निर्माण करने में काम आवे।...साम्यवादी सदाचार का आधार यही है कि साम्यवाद को ठोस बनाने और उसे अन्तिम अवस्था तक पहुंचा देने में सहायता मिले। यही साम्यवादी शिक्षण व शिक्षा का ध्येय है।...सदाचार का उद्देश्य यह है कि वह मनुष्य-समाज को इस कार्य में सहायता दे कि वह उच्चतर सतह पर

पहुंच सके तथा श्रम के शोषण से मुक्ति पा सके।" ‡

हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा समाजवादी लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त तथा श्री रमेन्द्रनाथ ने अपनी नवीनतम पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में अन्तिम अध्याय सदाचार पर लिखा है, जो बहुत ही विचारपूर्ण और सुन्दर है। इस अध्याय में लेखक महोदयों ने साम्यवादी सदाचार पर विशद रूप में प्रामाणिक ढंग से प्रकाश डाला है।

समाजवाद सदाचार का विरोधी नहीं है; परन्तु उसका सदाचार वर्गहीन-समाज में स्त्री-पुरुष की समानता— आर्थिक तथा सामाजिक— पर आश्रित है। वह न ईश्वरीय आदेशों में विश्वास करता है और न भाग्यवाद में। वह सत्य, अहिंसा तथा अस्तेय को मानता है; परन्तु यदि साम्यवादी समाज की स्थापना में हिंसा का भी आश्रय लेना पड़े तो वह संकोच न करेगा।

साम्यवादी सदाचार यौन-स्वच्छंदता अथवा भ्रमर-वृत्ति का समर्थन नहीं करता; वह विवाह को एक मानवीय सम्बन्ध मानता है और परिवार तथा पारिवारिक जीवन की आवश्यकता भी स्वीकार करता है। सोवियट रूस में क्रान्ति के बाद युवक-युवतियों में सहशिक्षा का प्रचलन था; परन्तु वहां के शिक्षाविदों ने यह अनुभव किया कि ऐसी प्रणाली दोषपूर्ण है। इसलिये यह प्रणाली समाप्त कर दी गई और अब युवक तथा युवतियों को पृथक् पृथक् संस्थाओं में शिक्षा दी जाती है। स्त्रियों को विवाह तथा विवाह विच्छेद की स्वतंत्रता है। सोवियट रूस में बड़ी आसानी के साथ तलाक हो जाता है। परन्तु अब तलाक की संख्या कम हो गई है। सोवियट रूस में बालकों के पालन-पोषण तथा शिक्षण पर राज्य सब से अधिक ध्यान देता है। यहां तक कि अवैध या विवाह-बाह्य उत्पन्न बालकों की भी राज्य रक्षा करता है। जिन कुमारियों को बिना विवाह के गर्भ रह जाता है, राज्य की ओर से उनके प्रसव तथा

‡. सर्व श्री मन्मनाथ गुप्त; रमेन्द्रनाथः ऐतिहासिक भौतिकवाद से उद्धृत

शिशु-पालन की व्यवस्था की जाती है।

सोवियट रूस में नारी-जाति की समानता एवं स्वतंत्रता का ही यह परिणाम है कि वहां कोई भी स्त्री वेश्यावृत्ति नहीं करती।

सर्व श्री मन्मथनाथ गुप्त व रमेन्द्रनाथ यह लिखते हैं:—

"स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों पर पूंजीवादी समाज-पद्धति में जो प्रतिबन्ध हैं, उनके निवारण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि यौन-जीवन में भ्रमर-वृत्ति का अवलम्बन किया जाय। यह सच है कि वैयक्तिक प्रेम आदिकालीन साम्यवादी समाज में नहीं था, बाद को चलकर इसकी उत्पत्ति हुई, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब जो उच्चतर समाजवादी समाज होगा, उसमें फिर से हम पुमिश्रण के युग में चले जायेंगे और वैयक्तिक प्रेम सर्वथा लुप्त हो जायेगा। इसके विपरीत ऐसा समझने का कारण है कि अब सब से पहले समाजवादी समाज में ही सच्चे रूप में प्रेम का उदय होगा; क्योंकि इसी समाज में प्रेम आर्थिक दबावों से मुक्त होकर अपनी महिमामयी छटा में प्रकट होगा। भ्रमर-वृत्ति के साथ साम्यवाद का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का सिद्धान्त और आचरण पतनशील सामन्तवादी और पूंजीवादी वर्ग को ही शोभा देता है।" *

---

*. मन्मथनाथ गुप्त व रमेन्द्रनाथः ऐतिहासिक भौतिकवाद, अध्याय सदाचार पृ० ५०७ व ५०८

## द्वितीय खण्ड

# सदाचार के मूल तत्व

## पहला अध्याय

# अहिंसा

प्रथम खण्ड में हमने यह भली भांति स्पष्ट कर देने का प्रयत्न किया है कि सदाचार का आदर्श क्या है। हमने साथ ही साथ सदाचार के सिद्धान्तों की भी मीमांसा कर दी है। परन्तु क्या केवल-मात्र सदाचार के आदर्श और सिद्धान्तों को जान लेने से ही मनुष्य सदाचारी बन सकता है? पाश्चात्य नीति-शास्त्र-विशारदों का यह मत है कि आचार शास्त्र का लक्ष्य और उद्देश्य तो सिर्फ यह बतलाना है कि मानवीय-आचरण में क्या उचित और क्या अनुचित है। वह सिर्फ यह बतलाता है कि मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिये; परन्तु इस प्रकार का आचरण करने के साधन या उपाय क्या हैं, इस पर वह कोई विचार नहीं करता। परन्तु हमारी सम्मति में आचार-शास्त्र, जब तक सदाचार की प्राप्ति के साधन न बतावे, तब तक वह अधूरा ही है और उससे मनुष्यों को क्या लाभ मिल सकता है।

इसीलिये हमारे यहां आचार-शास्त्र को व्यावहारिक-शास्त्र माना गया है और हमारे ऋषि-मुनियों ने सदाचार की प्राप्ति के जो साधन बताये हैं, वे आचार-शास्त्र के ही अन्तर्गत आजाते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योग के वर्णन में पहले दो अङ्ग यम और नियम बताये हैं। यम और नियम इस प्रकार हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।
शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः ॥

इन दो सूत्रों में महर्षि पतञ्जलि ने सदाचार की साधना का सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतलाया है।

संसार के किसी भी धर्म, संस्कृति या साहित्य में सदाचार की साधना की इतनी सूक्ष्म और सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था कहीं भी न मिलेगी।

हमारे जीवन—व्यक्तिगत एवं सामाजिक—का मूल आधार अहिंसा है। हमारे जीवन का विकास और उसकी रक्षा उसी के कारण सम्भव है। प्राणिमात्र में अहिंसा की प्रवृत्ति किसी न किसी अंश में रहती ही है।

यदि प्राणियों में अहिंसा की भावना या प्रवृत्ति मौलिक रूप में न होती, तो यह सृष्टि-रचना सम्भव न थी। पति-पत्नी-सम्बन्ध या दाम्पत्य सम्बन्ध का आधार यह अहिंसा-वृत्ति ही है और इस दाम्पत्य-सम्बन्ध के कारण ही मानव-सृष्टि की रचना सम्भव है। प्राणि जगत में भी हम इसी प्रेम का साम्राज्य पाते हैं। भयंकर से भयंकर जीव-जन्तु चाहे स्वजाति से भिन्न जन्तु को मार खाते हों, परन्तु उनमें स्वजाति के जन्तुओं से तो प्रेम होता ही है। नर और मादा में परस्पर आकर्षण तो होता ही है। यह आकर्षण अहिंसा-वृत्ति के कारण ही सम्भव है। यदि इस प्रकार का आकर्षण न हो तो पशुओं का विकास ही रुद्ध हो जाय।

अतः यह स्पष्ट है कि अहिंसा—प्रेम—जीवमात्र की मौलिक प्रवृत्ति है। कुछ एक प्राणियों में उसका अच्छा विकास हुआ है और कुछ एक में कम। मनुष्य प्राणी-जगत का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसलिये वह अहिंसा का इतना विकास कर सकने में समर्थ है।

अहिंसा का अर्थ है मन, वाणी और कर्म से हिंसा न करना। हिंसा का अर्थ है कि किसी प्राणी को कष्ट देना, हानि पहुँचाना अथवा दुःख देना। सदाचारी व्यक्ति के लिये मन में किसी व्यक्ति या प्राणी के प्रति हिंसा का विचार करना भी उचित नहीं है। वाणी से दुर्वचन बोलकर किसी को दुःख देना तो और भी अनुचित है और किसी को शारीरिक कष्ट देना तो स्पष्ट रूप में हिंसा है ही।

किसी भी मनुष्य को हम दो प्रकार से कष्ट दे सकते हैं— (१) शारीरिक (२) मानसिक।

किसी मनुष्य को मारना, पीटना, उसकी हत्या करना शारीरिक हिंसा है।

किसी मनुष्य को कटु वचन कहना, उसका अपमान करना अथवा उसे मानसिक कष्ट देना मानसिक हिंसा है। किसी मनुष्य की सम्पत्ति हरण करना, किसी के सम्बन्धी पुत्र-पुत्री, बहिन, पत्नी, पिता आदि को कोई कष्ट देना जिससे उसे मानसिक सन्ताप हो अथवा किसी को व्यावसायिक या व्यापारिक हानि पहुंचाना।

आज के मानव-समाज के संगठन पर जब हम विचार करते हैं, तो हमें स्पष्ट रूप से यह प्रकट हो जाता है कि हमारे समाज में हिंसा कितने व्यापक रूप में मौजूद है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें इस राक्षसी का साम्राज्य न हो।

हमारे व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, नागरिक जीवन, आर्थिक और औद्योगिक जीवन, और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन सभी में हिंसा ओत-प्रोत है। हमारे आचरण में अहिंसा का अस्तित्व नहीं के बराबर है। यदि हम वास्तव में अहिंसा-सिद्धान्त—विश्व-प्रेम के आदर्श को भली-भांति अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करें, तो हमारा जीवन कहीं अधिक शान्तिपूर्ण और उच्च बन सकता है।

अहिंसा का सिद्धान्त वास्तव में जीवन का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का पालन कर मनुष्य सत्यवादी, संयमी, सन्तोषी, दयावान्, पवित्र, अस्तेयी और अपरिग्रही बन सकता है। इसीलिये अहिंसा को मौलिक सिद्धान्त माना गया है।

यहां हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि मनुष्य के लिये मन, वचन और कर्म से पूर्ण अहिंसा का पालन करना ही आदर्श है। परन्तु मानव-समाज में ऐसी अहिंसा का पालन अत्युच्च नैतिक स्थिति में ही

सम्भव है। हमारे दैनिक जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जब कि हमें हिंसा करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई बिना किसी अपराध के हमें शारीरिक क्लेश पहुँचाता है अथवा हम पर प्रहार करने के लिये उद्यत है, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम उससे अपनी रक्षा करें और ऐसा करते समय यदि उस आततायी को कोई मानसिक वेदना या शारीरिक कष्ट हो, तो हम उसकी परवाह न करें। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी नारी पर बलात्कार करता है अथवा किसी की स्त्री का अपहरण करता है, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम उस आततायी से उसकी रक्षा करें और इस कार्य में यदि आततायी को कुछ कष्ट हो अथवा उसकी हत्या भी हो जाय तो इसमें हिंसा न होगी।

अत: हिंसा तो भावना या उद्देश्य में निहित है। यदि हमारी भावना में हिसा नहीं है—दूसरे को कष्ट देने की भावना नहीं है और न हमारा उद्देश्य ही किसी को कष्ट पहुंचाना है. तो फिर यदि हमारे किसी कार्य से किसी को कष्ट पहुंचे तो वह हिंसा नहीं होगी।

## अहिंसा की साधना

अब हमें यह विचार करना है कि हम अहिंसक कैसे बन सकते हैं। जिस प्रकार किसी विज्ञान या कला के सीखने के लिये उचित शिक्षण और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है, उसी प्रकार अहिंसा की साधना के लिये भी उचित शिक्षण और सतत अभ्यास ज़रूरी है।

मनुष्य दूसरे मनुष्य या प्राणी को दुःख या हानि जिन कारणों से पहुँचाता है, वे निम्न प्रकार हैं:—

( १ ) काम; ( २ ) क्रोध; ( ३ ) लोभ; ( ४ ) द्वेष; ( ५ ) घृणा ( ६ ) गर्व।

इन्द्रियों—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—की अपने अपने विषय में

प्रवृत्ति का नाम काम है। यह तो इसका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ में काम से प्रयोजन है स्त्री-पुरुष-भाव ( sex )। अतः मनुष्य जब काम के वशीभूत हो जाता है, तब वह व्यभिचार, बलात्कार, स्त्री-अपहरण आदि कर्म करता है जिनमें स्पष्टतः हिंसा होती है। इनसे दूसरों को हानि पहुंचती है।

क्रोध-वश वह दूसरों को मारता-पीटता और शारीरिक तथा मानसिक कष्ट देता है। वह आवेश में आकर गाली-गलौज करता तथा अपमान करता है।

लोभ का अर्थ है दूसरे के पदार्थ को लेने की कामना। इस वृत्ति के वश में होकर वह दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करने की चेष्टा करता है। ऐसा करके वह स्पष्टतः हिंसा करता है।

किसी व्यक्ति या जीव के प्रति द्वेष-वश वह हिंसा करता है।

अथवा जब वह किसी वस्तु या व्यक्ति से घृणा करने लगता है, तब वह हिंसा करने के लिये उतारू हो जाता है।

मनुष्य में जब अहंभाव अथवा गर्व की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और वह यह समझने लगता है कि संसार में यदि कोई बलशाली, बुद्धिमान, चतुर और सर्वश्रेष्ठ है, तो वह ही है, तब वह प्रमादवश नाना प्रकार के अत्याचार करने लगता है और अपने साथियों, पड़ोसियों, नागरिकों और दूसरे राष्ट्रों को भी दुःख और कष्ट देने लगता है। यदि हम दैनिक जीवन के व्यवहारों का विश्लेषण करें, तो हमारे अधिकांश कष्टों, अन्यायों और अत्याचारों की जड़ में यह अहंकार ही मिलेगा।

आज सारा संसार गत भीषण विश्वयुद्ध की प्रचंड ज्वाला में भस्मीभूत हुआ जारहा है। वह भी तो हिटलर के गर्व का ही फल है। एक अति अहंकारी अधिनायक की साम्राज्य-लिप्सा के कारण सारे संसार में घोर अशान्ति मची हुई है।

हमने हिंसा-मूलक भावों का यहां विश्लेषण किया है। इन मनोभावों

को अपने मन से निकाल देने पर ही मनुष्य सच्चा अहिंसक बन सकता है।

गीता में भी योगिराज श्रीकृष्ण ने लिखा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
द्वितीयो अध्याय ॥

विषयों का ध्यान करते हुए पुरुष का उनमें संग होता है; संग से काम उत्पन्न होता है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह होता है; मोह से स्मृति का नाश होता है; स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है।

अतः अहिंसा की साधना के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उपर्युक्त दुर्गुणों या दुर्भावों का परित्याग कर दिया जाये।

उपर्युक्त काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, घृणा, गर्व (अहंकार) आदि वृत्तियों का यथासम्भव परित्याग कर निम्न लिखित गुणों या वृत्तियों का ग्रहण करना चाहियेः—

(१) सम-बुद्धि; (२) सहानुभूति; (३) सहनशीलता; (४) सेवा; (५) दया; (६) करुणा।

मनुष्य को चाहिये कि वह प्राणी-मात्र में सम-बुद्धि रखे। प्रत्येक प्राणी में समान जीवात्मा है यह भाव ही उसमें सहानुभूति का उदय कर सकता है। जब उसमें दूसरे प्राणियों और मनुष्यों के प्रति सहानुभूति की भावना जाग जायगी, तब वह उनके प्रति सहनशील भी बन सकेगा। यदि उनसे कोई कष्ट भी मिलेगा, तो वह उसे सहन कर सकेगा। जब मनुष्यों में सहानुभूति और सहनशीलता—इन दो सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुणों का चरम विकास हो जाता है, तभी वह मानव-समाज की सच्ची

सेवा कर सकता है। सेवा की भावना मनुष्य को अहिंसक बनाने में बहुत सहायता देती है। दया और करुणा तो प्रेम की दो छोटी बहिने हैं। प्रेम संसार में सब से शक्तिशाली वस्तु है। इसके सामने किसी अन्य भाव की शक्ति नगण्य है। अतः मनुष्य को अहिंसक बनने के लिये इस प्रकार सत् प्रयास करते रहना चाहिये, तभी उसकी साधना में वह सफल हो सकता है।

जब आप में काम का भाव पैदा हो, तो आपको तुरन्त ही अपने मन को शान्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। आपके निकट यदि कोई धार्मिक और शुद्ध मनोवृत्ति का पुरुष है और जिसके प्रति आपकी श्रद्धा है, तो आप उसके समीप जाइये और धर्म-चर्चा शुरु कर दीजिये। आप स्नान आदि द्वारा और शीतल जल से अपने अंगों का प्रक्षालन कर अपनी इन्द्रियों की उत्तेजना को शान्त कर सकते हैं। ऐसे समय आपको किसी धार्मिक नेता या महात्मा के चरित्र का ध्यान करना चाहिये।

यदि किसी के प्रति आपके मन में घृणा और द्वेष है, तो आपको चाहिये कि आप उसके प्रति दया और करुणा के भाव प्रदर्शित करें। आप थोड़ी देर शान्त मन होकर सोचें कि क्या घृणा और द्वेष से आपके मन को शान्ति और आनन्द मिलता है। नहीं नहीं, आपको तुरन्त ही अनुभव होगा कि इससे मन और भी अशान्त होता है—नाना प्रकार के दुर्भाव एवं कुविचार मन में अपना डेरा डाल लेते हैं। यदि इनकी जगह प्रेम और करुणा के भाव उदय हो जायें तो आपके चित्त को एक अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा।

आप किसी को अपना शत्रु न समझिये। बस आपके मन में द्वेष और द्रोह के भाव ही मिट जायंगे। वैर या द्वेष आरम्भिक दशा में, हमारी उस मनोदशा में होता है जिसे हम बुरी कामना कहते हैं। किसी के प्रति बुरी कामना रखने से ही द्वेष की नीव जमती है। धीरे

धीरे हम जिससे अरुचि करते हैं, उसे घृणा करने लगते हैं और घृणा विकसित होने पर ही द्वेष का रूप धारण कर लेती है।

यदि आपको किसी के कार्य से दुःख पहुंचा है अथवा आप उसके कार्य को पसंद नहीं करते, तो आप अपने मन में उद्वेग को अधिक न बढ़ने दें; उसे वहीं दबा दें जिससे वह क्रोध के रूप में प्रकट न हो।

अन्त में आपको हम महर्षि पतञ्जलि का यह उपदेश बताकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं:—

समान के प्रति मैत्री रखो, छोटों के प्रति करुणा, बड़ों के प्रति मुदिता और दुष्टों के प्रति उपेक्षा का भाव रखो। इससे मन में शान्ति का उदय होगा और अहिंसा की साधना में सफलता भी मिलेगी।

---

## दूसरा अध्याय

# सत्य

जिस प्रकार हमारी आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म में 'अहिंसा परमो धर्मः' मानी गई है, उसी प्रकार यह भी मान्यता प्राचीन काल से चली आरही है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्'। सत्य की सदैव जीत होती है। इसी आधार पर देशपूज्य महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह' का आविष्कार किया और तभी उनका यह अटल विश्वास था कि सत्याग्रह में पराजय तो कभी होती ही नहीं।

प्रत्येक धर्म ने सत्य की महिमा को स्वीकार किया है; परन्तु इसकी जितनी महिमा आज गायी जाती है, उसका एक सहस्रांश भी अमल में नहीं लाया जाता। सभी धर्म और धर्मवाले सत्य को अपने धर्म का अभिन्न अंग मानते हैं, परन्तु फिर भी इन धर्मवालों में संघर्ष, उपद्रव और भीषण हत्याकाण्ड तक होते देखे गये हैं और आज भी हम यही देखते हैं।

तब इसका मतलब यही है कि धर्मवालों ने सत्य के व्यापक और शाश्वत स्वरूप को न पहचानकर उसकी अपने अपने स्वार्थों के अनुसार कल्पना करली। इसलिये वे सत्य से विलग रहे और फलतः उनमें संघर्ष हुआ। यदि वास्तव में सब धर्मों के अनुयायी सत्य को ग्रहण करने लगें, तो यह धर्म के नाम पर जितना भीषण उत्पात मचा हुआ है वह न रहे।

सत्य की महिमा पर महाभारत में लिखा है: "सत्य के समान धर्म नहीं है और असत्य के समान पाप नहीं है, धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है। इसलिये सत्य का लोप कभी न करना चाहिये। सत्य से दान का, दक्षिणायुक्त यज्ञों का, अग्निहोत्र का, वेदाध्ययन का और अन्यान्य धर्मों का फल मिलता है। हज़ार अश्वमेध यज्ञों का फल तराजू की एक ओर और सत्य दूसरी ओर तोला जाय तो हज़ार अश्वमेध की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी रहता है। †

अब हमें विचार यह करना है कि सत्य है क्या। उसका स्वरूप क्या है?

इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनों ही सत्य हैं—सत् हैं। इनका कभी नाश नहीं होता और न इनका कोई आदि है और न अन्त। ये सदा एकसा रहते हैं। इनमें प्रकृति जड़ है और ब्रह्म एवं जीवात्मा चेतन हैं। परन्तु जीवात्मा आनन्दरहित है, इसीलिये वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है और फिर ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा वह सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। अतः ब्रह्म ही वास्तव में सत्य है, उसी की सेवा करनी चाहिये।

ब्रह्म—सच्चिदानन्द—की प्राप्ति के मार्ग में जितने भी साधन हैं, वे सब सत्य हैं और उनके अनुकूल मनुष्य का आचरण भी सदाचरण है।

योग-दर्शन साधनपाद के तीसरे सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि ने लिखा है—

**सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं, यथानुमित, यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चोति, परत्र स्वबोध संक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति वन्ध्या वा भवेदिति।"**

"मन सहित वाणी के यथार्थ कथन का नाम सत्य है अर्थात् जैसा

---

† महाभारत, शान्ति पर्व १६२।

देखा, समझा और सुना है, दूसरे को कहते समय ठीक मन और वाणी का वैसा ही प्रयोग करना चाहिये। देख, सुन, समझकर जो बात अपनी समझ में जैसी आयी है, ठीक वही सुनने वाले की समझ में आवे, ऐसे कथन का नाम सत्य है। भाषा में ठीक वही शब्द बोलने पर भी यदि तुम्हारी वाक्चातुरी या सावधानी से सुनने वाला भ्रम में पड़ जाय या ठगा जाय तो उसका नाम सत्य नहीं। अथवा भाषा सत्य होने पर भी भाव बदल कर कहने के कारण यदि सुनने वाला उस बात को ठीक न समझे तो वह भी सत्य नहीं।"

आज संसार में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें असत्य का दर्शन मिलता है। चाहे हम व्यक्तिगत जीवन में देखें, चाहे सामाजिक या धार्मिक जीवन में अथवा राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में— सभी जगह असत्य अपने भयंकर रूप में अशान्ति पैदा कर रहा है। कुछ हमारी परम्परा ऐसी बन गई है कि हम सत्य का उचित क्या कुछ भी मूल्य नहीं समझते।

हम छोटे-छोटे बालकों के सामने व्यर्थ में असत्य भाषण और व्यवहार करते हैं, और धीरे धीरे वे भी असत्यभाषी बन जाते हैं। हम इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते।

धार्मिक क्षेत्र में भी असत्य, छल और कपट का खुलकर खेल हो रहा है। लोग अपने स्वार्थों और हितों को धर्म की संज्ञा देकर अज्ञानी लोगों को ठग रहे हैं। कोई मुक्ति देने का ठेका लेता है, तो कोई पितरों के लिये श्राद्ध द्वारा उनकी तृप्ति का ढोंग रचता है।

हमारे सामाजिक जीवन में भी असत्य का भारी प्रभाव है। सरकारी अंचलों पुलिस, अदालत, तथा सभी सरकारी विभागों में झूठ का बाज़ार गरम है। कानून भी ऐसा है जो असत्य की मदद करता है। अदालतों में सत्य को असत्य और असत्य को सत्य प्रमाणित किया जाता है और न्यायाधीश भी यह सब कुछ जानते हैं। परन्तु वे तो कानून की

रक्षा में लगे रहते हैं। पुलिस में तो असत्य और भी भयंकर रूप में व्याप्त है। नित्य मिथ्या रिपोर्टें पुलिस-रोजनामचों में दर्ज की जाती हैं; झूठे चालान किये जाते हैं और मिथ्या साक्षी दी जाती है।

व्यापारिक क्षेत्र में तो यह समझा जाने लगा है कि व्यापार और सत्यता ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। इन दोनों में सामंजस्य नहीं हो सकता। यदि सत्यता से व्यापार और कारोबार किया जाय तो लाभ नहीं हो सकता। इस मिथ्या मनोविज्ञान के आधार पर व्यापार-क्षेत्र में असत्य भाषण और असद् आचरण धर्म माना जाने लगा है। जितना छल-कपट और झूठ हमारे व्यापारिक जीवन में परिव्याप्त है, उतना और उतने बड़े पैमाने पर शायद ही किसी देश में हो।

दूध में पानी मिलाकर धड़ल्ले से बेचा जा रहा है और साइनबोर्ड में लिख रखा है "शुद्ध खालिस दूध"। घी के नाम पर नारियल और मूंगफली के तेल बिक रहे हैं और उन्हें "शुद्ध घृत' कहा जा रहा है। सरसों के तेल के नाम से अलसी का तेल कलकत्ता में खूब प्रचलित है। रसायनिक ढंग से उसका परिष्कार किया जाता है जिससे उसका रूप एवं स्वाद सरसों के तेल जैसा बन जाता है।

इसी प्रकार गेहूं के आटे के नाम से ज्वार और मकई का आटा बेचा जाता है। सड़ियल से सड़ियल वस्तु को उत्तम कहकर चौगुने पचगुने दामों में बेचा जाता है।

राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तो असत्य, छल और कपट अपने नग्न रूप में देख पड़ता है। सत्य का तो किसी के वचनों में शायद ही लेश हो। प्रत्येक राजनेता या मन्त्री अथवा राजदूत असत्य का भाषण और व्यवहार करता है। परन्तु वह अपनी चातुरी से उस असत्य को ऐसा मोहक रूप देता है जिससे जन-साधारण उसे भांप न जायं। इसी में सारी राजनीतिज्ञता, निपुणता और कार्य कुशलता समझी जा रही है। एक देश दूसरे देश पर दांत दिये बैठा है, परन्तु उसका

राजनेता यह ढोंग रचता है कि "हम संसार में स्वाधीनता और प्रजातंत्र की विजय चाहते हैं, हमें देश-विजय की आकांक्षा नहीं है।" एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से यह संधि कर लेता है कि हम परस्पर सहयोग एवं मेल से रहेंगे और किसी के देश पर हमला न करेंगे। परन्तु इसके बाद ही वह हमला कर देता है।

यदि देश के राजनीतिक जीवन, राजनीतिज्ञों के दैनिक जीवन, राज-काज में भाग लेने वाले उच्च अधिकारियों और छोटे से छोटे कर्मचारियों के जीवन का विश्लेषण करें तो यहां भी हमें असत्य, छल, कपट और पाखण्ड का उतना ही खुला व्यापार देख पड़ेगा जितना कि हमारे व्यापारिक जीवन में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे समाज का समूचा ढाचा ही असत्यमय बन गया है। इस दुष्चक्र से बचना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। जब तक हमारे जीवन में—उसके प्रत्येक क्षेत्र में—सत्य का व्यवहार नहीं होगा, तब तक समाज कल्याण प्राप्त नहीं कर सकेगा। आज संसार में जो अशान्ति, असन्तोष और भय का राज्य व्याप्त है, उसका कारण है हम में अहिंसा और सत्य का अभाव। यदि हम वास्तव में इस संसार को स्वर्ग बनाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का व्यवहार करें।

## सत्य की साधना

अब हमें यह विचार करना है कि मनुष्य असत्य का व्यवहार क्यों करते हैं और सत्याचरण के लिये क्या उपाय किया जाय।

मनुष्य जीवन के चाहे जिस क्षेत्र में असत्य-भाषण व व्यवहार करें, वे लोभ, मोह, भय या द्वेषवश ही ऐसा करते हैं। किसी भी मिथ्या-भाषण या आचार की जड़ में हमें इनमें से कोई न कोई दोष मिलेगा। यदि मनुष्य इन चारों दोषों अथवा दुर्गुणों का त्याग कर दें, तो वे

सत्य-भाषण और सत्याचरण पर आरूढ़ हो सकते हैं।

सत्य-भाषण और सत्याचरण की साधना के लिये निम्न लिखित उपाय प्रयोग में लाये जा सकते हैं :—

(१) निर्भयता की प्रवृत्ति का विकास करे।

(२) छल और कपट से बचे रहने का प्रयत्न करे।

(३) कम भाषण करे और जो शब्द बोले वह बहुत ही सोच-समझ कर कहे।

(४) भाषण करते समय अथवा किसी मनुष्य के साथ व्यवहार करते समय देश, काल और पात्र तथा प्रसंग का जरूर ध्यान रखे।

(५) कभी अप्रिय भाषण न करे।

(६) अपने भाषण में मधुरता, स्पष्टता, और सार्थकता लाने का प्रयत्न करे।

(७) शब्दों के चुनाव और उनके अर्थों का पूरा ध्यान रखे। कोई ऐसा शब्द न कहे जिससे भ्रान्ति या भ्रम पैदा हो।

(८) आत्म-प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने से बचना चाहिये। ऐसा करते समय मनुष्य मिथ्या-भाषण करने लगता है।

## तीसरा अध्याय

# अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है मन, वचन और कर्म से किसी का द्रव्य हरण न करना। आज यदि हम मानव-समाज के संगठन पर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि उसमें अस्तेय की भावना का अभाव है। इसी कारण आज समाज में गरीबी, बेकारी, और दलित-पीड़ितों का आर्थिक शोषण जारी है। आज संसार पूंजीवाद और पूंजीवादी व्यवस्था के कारण त्रस्त है, दुःखी है और वह पतन की ओर अग्रसर है।

प्रत्येक देश में पूंजीवाद ही आज देशवासियों के दुःख का कारण बन रहा है। पूंजीपति सम्पत्ति के स्वामी बनकर मालामाल हो रहे हैं, ऐश्वर्य और विलास में पड़े सुख भोग रहे हैं और शेष जन-साधारण सम्पत्तिहीन कर दिये गये हैं और वे उनके टुकड़े के मुहताज़ बने बैठे हैं। आज समाज और शासन का संचालन भी इन्हीं लक्ष्मी-पुत्रों के हाथ है। इसलिये शासन-सत्ता और धन-बल इन दोनों के प्रताप से वे आज राजनीति में भी अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं।

पूंजीवाद व्यक्तिगत स्वार्थ के आधार पर टिका हुआ है। कुछ लोग सम्पत्ति के स्वामी बनकर शेष जन-समुदय को श्रमिक बनाकर उनका आर्थिक शोषण कर रहे हैं। उन्हें केवल अपने पेट भरने लायक मज-दूरी भर मिल जाती है। पर सच तो यह है कि इतनी कम मजदूरी से

वे अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भी तो नहीं भर सकते और दूसरी ओर इन पूंजीपतियों को सभ्य जीवन के सभी आराम प्राप्त हैं।

चोरी करना अपराध माना जाता है और राज्य की ओर से दण्डनीय भी है। परन्तु इस पूंजीवादी सभ्यता ने चोरी के ऐसे ऐसे ढंग खोज निकाले हैं कि राज्य का कानून भी उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। एक बेकार और मूर्ख व्यक्ति बाजार में किसी दूकान से चुरा कर कुछ पूरियां खाले, तो उसे दूकानदार तुरन्त ही पुलिस द्वारा गिरफ्तार करवा कर न्यायालय से दण्ड दिलाने का प्रयत्न करेगा; और पुलिस तथा न्यायालय भी उस दूकानदार की मदद के लिये तैयार हैं।

परन्तु ये व्यापारी और पूंजीपति ( मिल-मालिक, जमींदार, बैंकर, खानों के ठेकेदार, कम्पनियों के संचालक, बड़े बड़े वकील, बैरिस्टर और डाक्टर ) जो दिन-रात जनता का आर्थिक शोषण कर रहे हैं, इन्हें न समाज अपराधी बताता है और न कानून ही। इस आर्थिक विषमता को न कोई शासन समाज के लिये बुरा बताता है और न कोई इसका विनाश करने के लिये तत्पर है। लोकतंत्र की दुहाई देने वाले राजनीतिक समता पर तो बड़ा जोर देते हैं, परन्तु वे आर्थिक समता पर जरा भी ध्यान नहीं देते। एक करोड़पति मिल-मालिक और उसके कारखाने के एक १५) रु० मासिक कमाने वाले मजदूर में क्या राजनीतिक समता हो सकती है; जब कि वह मिल-मालिक चुनाव में लाख दो लाख रुपये लुटाकर हजारों 'वोट' खरीद कर व्यवस्थापक सभा का सदस्य बन सकता है और यदि उसका किसी राजनीतिक दल में प्रभुत्व हुआ, तो मंत्री या मिनिस्टर भी बन सकता है— जब कि वे लाखों मजदूर मताधिकार के बल से अपने उदर-पूर्ति का सामान भी नहीं जुटा सकते।

'कल्याण' के संपादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ने अपने व्यापारिक अनुभव के आधार पर यह लिखा है कि व्यापारी किस प्रकार चोरी करते

हैं। उनके ढंग कितने गुप्त हैं। यहां हम उनकी पुस्तक से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

१. अपनी स्थिति का झूठा रौब जमाकर लोगों को धोखा देना।
२. घटिया माल को बढ़िया बतलाकर बेचना।
३. नमूना एक दिखलाकर माल दूसरा देना। बढ़िया माल बतलाकर घटिया माल देना।
४. घटिया माल का भाव करके बेचने वाले से छिपाकर चालाकी से बढ़िया ले लेना या बढ़िया भाव करके खरीदार को घटिया देना।
५. खरीदार को चालाकी से वजन में कम तोलना और बेचने वाले से चालाकी से अधिक तुलवा लेना।
६. इसी तरह नाप में कम देना और अधिक लेना।
७. आढ़त-दलाली में चालाकी से छिपाकर कम देना या अधिक लेना।
८. झूठा बीजक बनाना।
९. व्यापारी संस्थाओं के माने हुए नियमों को चालाकी से भंग करना।
१०. सस्ता समझकर चोरी के माल को खरीदना।
११. अपवित्र को पवित्र कहकर या एक चीज में दूसरी मिलाकर बेचना।
१२. दूसरों का उदाहरण देकर चालाकी से ग्राहक को धोके में डालना।
१३. जुबान पलट जाना या छिपाकर उसका दूसरा रूप दिखलाना।
१४. झूठे समाचार गढ़कर लोगों को धोके में डालना।
१५. रुपये कम देकर अधिक की रसीद लिखा लेना।
१६. किसानों को फुसलाकर और धमकाकर दस्तावेज करवा लेना।

वर्तमान युद्ध के कारण भारत में खाद्य की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई है। यद्यपि देश में गेहू, चना, जौ, चावल आदि खाद्य अन्न की न्यूनता नहीं है, परन्तु समाज की स्थिति यह है कि पूंजीपति और व्यापारी वर्ग ने खाद्य को छिपाकर रख छोड़ा है और उसे नियंत्रित भावों की दर से भी कई गुना महंगा गुप्त रूप से बेचते हैं। इस प्रकार सारे देश में 'चोर बाजार' खूब चेत रहा है। हम स्वयं अपना अनुभव लिखते हैं। कलकत्ता-प्रवास के समय ( अगस्त १९४३ ) हमें गेहूं के आटे की जरूरत पड़ी। परन्तु आटा तो मिलावट मिलता था। इसलिये गेहूं खरीदना ही ठीक समझा गया। परन्तु गेहूं मिलना दुश्वार। तब एक व्यक्ति से गेहूं खरीदा ३०) रुपये प्रति मन के हिसाब से, जब कि बाजार में नियंत्रण की दर १७॥) प्रति मन थी। उस समय कलकत्ता नगर और बंगाल के सभी जिलों में भारी अकाल पड़ रहा था। ग्रामों से गरीब लोग अपने घरों को छोड़ अन्न की तलाश में कलकत्ता आ रहे थे। इनमें भिक्षुकों की भी संख्या थी, परन्तु सभी भिक्षुक नहीं थे। सरकारी अनुमान के अनुसार वहां ८० हजार ऐसे गरीब लोग थे जो बे घरबार कलकत्ते की सड़कों के 'फुट पाथों' पर पड़े रहते थे।। सैकड़ों ही रोज़ भूखे मर रहे थे। उनके भोजन की व्यवस्था यहां के धनी-मानी सेठ और पूंजीपति लोग कर रहे थे। परन्तु हम देखते थे कि ये सेठ और व्यापारी लोग इन गरीबों की भूख की समस्या के हल से भी स्वार्थ पूरा कर रहे थे, और ढिंढोरा पीटा जा रहा था कि भूखों को भोजन दिया जा रहा है।

जो लोग भूखों को हजार, दो हजार की संख्या में नित भोजन देते थे, उन्हें नियंत्रण की दर पर सरकार से खाद्यान्न मिल जाते थे। इस खाद्यान्न को मिल-मालिक व व्यापारी अपने काम में लाते थे, और कुछ सस्ते और पहले के स्टॉक किये हुए सड़े गले गल्ले को इन भूखों को खिलाने में लगा रहे थे।

यह सब चोरी ही है। इसमें दूसरे के धन के अपहरण की भावना स्पष्ट दीख पड़ती है।

हमने इस समस्या पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है और हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि अस्तेय धर्म का पालन आज के अव्यवस्थित या पूंजीवादी समाज में सम्भव नहीं है। पूंजीवाद समाज के सभी व्यक्तियों के सामुहिक कल्याण का विरोधी है; वह कुछ धनाढ्यों को धनी बनाने और गरीबों को निपट गरीब बनाने में अपने ध्येय की पूर्ति मानता है। इसलिये जब तक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन न किया जायगा और जब तक समाज के हरेक व्यक्ति को अपनी सुख-सुविधा के लिये समान रूप से सामग्री प्राप्त करने की सुविधा न होगी, तब तक अस्तेय धर्म का पालन कुछ व्यक्तियों की साधना से सम्भव नहीं।

---

# चौथा अध्याय

# ब्रह्मचर्य

हमारे वेद-शास्त्रों में ऋषियों ने ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा वर्णन की है। अथर्ववेद में लिखा है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ अ. ११-५-१६

देव-ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्य के तपोबल से मौत को मार डालते हैं। आत्मा भी निश्चय से अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों के लिये सुख व तेज को लाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ अ. ११-५-१७

राजा ब्रह्मचर्य के तप से राष्ट्र की ठीक ठीक रक्षा करता है। और आचार्य ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को बनाता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है इन्द्रिय-निग्रह करके ब्रह्म में लीन होना। ब्रह्म में लीन होने के लिये इन्द्रिय-निग्रह परम आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्म का चिन्तन तो आत्मा द्वारा ही उस समय सम्भव है जब कि मनुष्य का मन आभ्यन्तरिक हो— बहिर्मुख न हो और जब तक इन्द्रियां अपने विषयों में लीन रहेंगी, तब तक यह सम्भव नहीं। इसीलिये हमारी संस्कृति में ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्व है। हमारी भाषा में ब्रह्मचर्य ने एक अति संकुचित रूप ग्रहण कर लिया है। हम ब्रह्मचर्य से केवल वीर्य-रक्षा

का ही अर्थ लेते हैं। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। हम उसी समय पूर्ण ब्रह्मचारी बन सकते हैं जब कि समस्त इन्द्रियों का भी निग्रह करें—दमन करें। इसलिये ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ समस्त इन्द्रियों का दमन ही है।

हमारे ऋषि-मुनि यह भली भांति जानते थे कि वीर्य-रक्षा समस्त इन्द्रियों के संयम से ही सम्भव है। वे इसके लिये केवल उपस्थेन्द्रिय का ही निग्रह आवश्यक नहीं समझते थे, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों ( ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ) का भी निग्रह आवश्यक मानते थे।

इसीलिये तो उन्होंने ब्रह्मचारी के लिये आठ प्रकार के मैथुनों से बचे रहने का आदेश दिया है। वे आठ प्रकार के मैथुन निम्न लिखित हैं:—

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्" ॥

उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को उपर्युक्त उपदेश दिया जाता था। आचार्य कहता था—

"हे ब्रह्मचारी! यौवन-काल में से गुजरते हुए आठ प्रकार के मैथुनों से बचे रहना। ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास, और समागम। इनमें से किसी एक का भी शिकार मत बनना। जो मनुष्य इनका शिकार हो जाता है, वह किसी भी अवस्था में ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।"

इन उपर्युक्त आठ मैथुनों का निषेध मनोवैज्ञानिक आधार पर ही किया गया है। अब हमें यहां ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के मैथुन से सम्बन्ध पर विचार करना है और यह देखना है कि इन आठ प्रकार के मैथुनों का इन्द्रियों से क्या सम्बन्ध है इनके सम्बन्ध पर विचार करने

से पूर्व हम इन आठ मैथुनों की व्याख्या भी कर देना चाहते हैं:—

(१) स्मरण — काम-भाव से किसी स्त्री के विषय में चिन्तन करना।
(२) कथा — उसके विषय में बातचीत करना।
(३) स्पर्श — स्त्री के अंगों का स्पर्श काम-भाव से करना।
(४) क्रीड़ा — उसके साथ हंसी-मज़ाक करना।
(५) दर्शन — स्त्री को काम-भाव से देखना।
(६) आलिंगन — उसके अंगों से अपने अंगों को मिलाना।
(७) एकान्तवास — एकान्त में स्त्री से मिलना।
(८) समागम — स्त्री के साथ संभोग करना।

## १ चक्षु—रूप

चक्षु मनुष्य की एक अत्यन्त उपयोगी इन्द्रिय है। चक्षु के द्वारा आज मनुष्य न केवल देखता ही है, प्रत्युत ज्ञान का सब से अधिक भाग अर्जित करता है। वैसे तो वह सभी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु विद्या, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि की प्राप्ति में चक्षु विशेष सहायक है। चक्षु इन्द्रिय का इसीलिये विशेष महत्व है। चक्षु के द्वारा हमारे मानस-पटल पर जगत के बाह्य दृश्यों की छाप पड़ती है और हम उसके द्वारा ही आकर्षण-विकर्षण का अनुभव करते हैं। चक्षु के द्वारा मनुष्य अधिक पाप और दुराचार करता है। नारी का दर्शन, उसके अंग-प्रत्यंगों की झांकी और उसके सौन्दर्य का ज्ञान जब मनुष्य को चक्षु के द्वारा होता है, तब उसके मन पर उसकी छाप पड़ जाती है। वह उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो उसका समय-समय पर चिन्तन करता रहता है। फिर वह कभी-कभी अपने किसी घनिष्ठ मित्र से उसके सौन्दर्य की चर्चा करने लगता है। चर्चा करने के बाद वह उसका स्पर्श करने की चेष्टा करता है। स्पर्श के बाद वह उसके साथ क्रीड़ा

करना चाहता है। इसके बाद समय और अवसर उपयुक्त मिल जाने पर वह उसके शरीर का आलिंगन करता है और एकान्त में उसके साथ मैथुन की इच्छा करता है।

आज के संसार में मनुष्य की चक्षु-इन्द्रिय के असंयम के लिये इतने अधिक अवसर हैं कि वह पद-पद पर पतन के मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है। अश्लील नाटक, चल-चित्र, नृत्य, खेल-तमाशे, मनोरंजन के दर्शन से मनुष्य की कुवासनाएं जाग उठती हैं, और वह कामोत्तेजना का अनुभव करने लगता है।

हमारे देश में इधर दस वर्षों में चल-चित्रों, चित्र-पटों का भारी प्रचार हुआ है। प्रत्येक नगर में आपको टॉकी तथा सिनेमा-गृह मिलेंगे। इनमें रात्रि के समय चित्रों का प्रदर्शन किया जाता है। अधिकांश चित्र अश्लील और दूषित होते हैं। ऐसे चित्रों का बालकों एवं अपरिपक्व मस्तिष्क वाले युवकों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये तो ऋषियों ने ब्रह्मचारियों के लिये नाटक, नाच-रंग आदि का निषेध किया था।

हमारी राय में बालकों और किशोर युवक तथा युवतियों को ऐसे अश्लील चित्रों, नाचों तथा खेलों के देखने से बचाना चाहिये और उनके लिये उच्च कोटि के सुन्दर, शिक्षाप्रद मनोरंजनों, खेलों, कलापूर्ण नृत्यों एवं श्रेष्ट फ़िल्मों की व्यवस्था करनी चाहिये। उन्हें देखने से बालकों को लाभ ही होगा। परन्तु ऐसे चित्रों आदि में काम भावना का अभाव रहना जरूरी है।

मनुष्य में काम-वासना कैसे जागृत हो जाती है, इसे स्पष्ट करने के लिये हम यहां एक दृष्टान्त देते हैं।

एक समय की बात है कि श्री वेदव्यास अपने ब्रह्मचारियों को आश्रम में शिक्षा दे रहे थे। अपने उपदेश के बीच में उन्होंने ब्रह्मचारियों से कहा— "नवयुवती के साथ कभी न रहो। क्योंकि काम-शक्ति

बड़ी प्रबल है। संयमी का संयम भी टूट जाता है।" उनके एक ब्रह्मचारी जैमिनी ने, जो पूर्व-मीमांसाकार हुए, कुछ धृष्टता से कहा:—"आचार्य, आपका यह कथन सत्य नहीं है। कोई भी स्त्री मुझे मोहित नहीं कर सकती। मेरा ब्रह्मचर्य-व्रत अटूट है।"

व्यास जी ने कहा— "जैमिनी, तुम्हें यह शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा। मैं तीन मास के लिये काशी जा रहा हूं। सावधान रहना। गर्व मत करना।" वेदव्यास ने योग-बल से एक सुन्दर कन्या का रूप धारण कर लिया। अपना रूप बड़ा ही मोहक और आकर्षक बना लिया। वस्त्र भी बहुत ही सुन्दर पहन लिये। सूर्यास्त के समय एक वृक्ष के नीचे इस स्त्री-रूप में वे खड़े हो गये। मेघ-मण्डल छा गये और थोड़ी ही देर में वर्षा होने लगी। इसी समय जैमिनी उस ओर से निकले। उन्होंने रूपवती कन्या को वर्षा में भीगते देखा और हृदय में दया आ गई। जैमिनी ने उससे कहा— "हे कन्या, तुम मेरे आश्रम में विश्राम करो। मैं तुम्हें आश्रय दूंगा।" कन्या ने कहा— "क्या आप अकेले हैं? क्या कोई दूसरी स्त्री भी रहती है।" जैमिनी ने उत्तर दिया— "मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूं। मुझे काम सता नहीं सकता। मैं विकारहीन हूं। तुम यहां ठहर सकती हो।" कन्या ने जवाब दिया— "रात्रि के समय एक ब्रह्मचारी के पास एकान्त में किसी कुमारी को ठहरना उचित नहीं है।"

जैमिनी ने कहा:— "हे कन्या! तुम डरो मत। मैं वचन देता हूं कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूं।" तब वह आश्रम में ठहर गई। जैमिनी बाहर सोये और वह युवती भीतर कमरे में। अर्द्ध रात्रि के समय जैमिनी को काम ने सताया। उसने द्वार खटखटाया और कहा— "देवी, बाहर ठंडी हवा चल रही है जिसे मैं सहन नहीं कर सकता।" उसने द्वार खोल दिया। जैमिनी भीतर सोने लगा। अब तो उसकी कामोत्तेजना और भी बढ़ गई। वह उसके निकट जाकर उसका आलिंगन करने लगा। अब व्यास मुनि अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गये और

कहने लगे— "मेरे प्रिय जैमिनी, क्या तुम पूर्ण ब्रह्मचारी हो? यह क्या हुआ?" जैमिनी ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया और कहा— "गुरु जी, मुझे क्षमा कीजिये। मैं गलती पर था।"

## २ श्रवण—शब्द

चक्षु के बाद श्रवणेन्द्रिय का स्थान महत्वपूर्ण है। हम चक्षु से जितने ज्ञान-विज्ञान का अर्जन करते हैं, उससे श्रवणेन्द्रिय का भी बड़ा सहयोग रहता है। शब्द का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। इससे सुन्दर उपदेशों का श्रवण करते हैं; किसी संकट का संकेत पाकर उससे अपनी रक्षा करने के लिये सावधान हो जाते हैं। परन्तु शब्द का काम-भावना से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य अश्लील संगीत और गानों तथा कामोत्तेजक कहानियों और अश्लील बातों को सुनकर कामोत्तेजना का अनुभव करने लगता है। इस सम्बन्ध में काम-विज्ञान के महान आचार्य हैवलॉक एलिस ने अपनी पुस्तक में लिखा है:—

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न प्राणियों में— विशेष रूप से कीड़ों, पतंगों और पक्षियों में— संगीत का उद्देश्य नर का मादा को अपनी ओर लुभाना ही है। डार्विन ने इस दृष्टि से बहुत से अन्वेषण किए और वे इसी सिद्धान्त पर पहुंचे।........ वर्तमान गवेषणाओं से यह बात स्थिर रूप से सिद्ध हो चुकी है कि मधुर शब्दों और गीतों का परिणाम पक्षियों में नर और मादा का मिलना होता है। गीत तथा प्रेम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि प्राणी जगत में नर और मादा में से एक ही को मधुर स्वर दिया गया है।"*

आगे इसी ग्रन्थ में मनुष्यों के बारे में एलिस महोदय लिखते हैं:—

"जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पशु-पक्षियों में ही नहीं

---

* Havelock Ellis : Sexual Selection in Man, p. 123.

अपितु मनुष्यों में भी, यौवनावस्था में ग्रीवा के उस भाग की रचना में भारी परिवर्तन हो जाता है जिसका गाने में अधिक उपयोग होता है तब इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गाने का यौवन के मानसिक भावों के साथ बड़ा भारी सम्बन्ध है।"

इससे यह स्पष्ट है कि अश्लील गायन तथा बातचीत और कहानियों के सुनने से कामोत्तेजना बढ़ जाती है।

## ३ नासिका---गंध

गंध का काम-शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। सुन्दर पुष्पों को देखकर मन में कामोत्तेजना होने लगती है। इसी कारण तो दम्पति सहवास के समय पुष्पों का प्रयोग करते हैं। पत्नी की ग्रीवा पर चंपा, बेला, चमेली या गुलाब के पुष्पहार धारण करके सुखानुभव करते हैं। आजकल नाना प्रकार की सुगंधियां बाजारों में इनके नाम से प्रचलित हैं। इनका प्रयोग खूब चल रहा है।

नासिका द्वारा ही हम सांस लेते हैं। बाहर से प्राण-वायु ग्रहण करते तथा फेफड़ों के भीतर की अशुद्ध वायु बाहर निकालते हैं। हम इसी के द्वारा गंध का अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त नासिका स्पर्शेन्द्रिय को भी उत्तेजना देती है।

गंध और कामोत्तेजना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्त्री के अंगों से एक विशेष प्रकार की गंध से पुरुष को उत्तेजना हो जाती है। †

---

† Sexual excitement, in some animals, is induced by smell, as by many other sensations. —Alexander Bain's Mental & Moral Science, (1881) p. 42.

## ४ त्वचा----स्पर्श

हम गरम, ठंडे, नरम, कोमल पदार्थों का अनुभव इसी इन्द्रिय के द्वारा करते हैं। यदि यह इन्द्रिय न हो तो मनुष्य को न अग्नि से जलन मालूम हो और न कांटे का चुभना ही मालूम हो। कीट-पतंगों से काटा जाना तो बहुत ही आसान हो जाता और इसके अभाव में जीना ही असम्भव हो जाता।

अतः त्वचा का बड़ा ही उपयोग है। एक मनोवैज्ञानिक ने स्पर्श को प्रेम का आदि और अन्त कहा है। स्पर्श काम-भावना को जगाने में सब से अधिक उत्तेजक है। इस सम्बन्ध में डा० ब्लौच ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न हो जाने का मुख्य कारण यह है कि त्वचा के संवदेना-तंतुओं की रचना तथा उत्पादक अंगों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है, इसलिये प्राणिमात्र में अन्य अवयवों की अपेक्षा त्वचा का असर मानसिक दुर्भावों को जागृत करने में तत्काल होता है। जो मनुष्य स्पर्श की भयानक आंधी से बच जाता है, वह इसके उन दुष्परिणामों से भी बच जाता है, जो उसे अंधा बना देने वाले हैं।"

यह तो हम देखते ही हैं कि छोटे-छोटे बालकों में उपस्थेन्द्रिय के के स्पर्श करते रहने से ही बहुतेरी कुटेवें पैदा हो जाती हैं। कोमल और मखमली बिस्तरों पर— गद्दों पर शयन करने से भी उत्तेजना अनुभव होने लगती है। इसीलिये तो प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में ब्रह्मचारी भूमि पर शयन करते थे।

यह तो काम-विज्ञान की एक साधारण बात है कि स्त्री के कपोलों, अधरों आदि का स्पर्श करने मात्र से कामोत्तेजना पैदा हो जाती है। यदि स्त्री पुरुष के पैरों की मालिश करे तो पुरुष को कामोत्तेजना हो

जाती है।

एलिस महोदय ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"कई लेखकों ने लिखा है कि घोड़े की सवारी ब्रह्मचर्य के लिये ठीक नहीं है। घोड़े की सवारी से वीर्य स्खलित हो जाने का ज्ञान कैथोलिक पादरियों को भी था। पुरुष तथा स्त्रियों में रेलगाड़ी की गति से भी दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह बहुतों का अनुभव है।" ‡

इसीलिये तो हमारे ऋषियों ने ब्रह्मचारी के लिये हाथी, घोड़े और ऊंट की सवारी का निषेध किया था।

## ५ रसना—रस

रसना के द्वारा हम विविध रसों का अनुभव करते हैं। हमारे यहां आयुर्वेद में छः प्रकार के रस माने गये हैं— (१) मधुर (२) अम्ल (३) लवण (४) कटु (५) तिक्त और (६) कषाय। हम जिह्वा के द्वारा इन रसों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो लोग इन रसों का सेवन केवल अपनी रसना की तृप्ति के लिये करते हैं, वे इन्द्रिय-परायण हो जाते हैं।

ब्रह्मचारी के लिये अथवा प्रत्येक सदाचारी के लिये सात्विक भोजन का ही विधान है। सात्विक भोजन के अन्तर्गत दूध, मक्खन, घृत, फल, मेवा, हरे शाक-सब्जियां, चावल, गेहूं. आदि आजाते हैं। राजसिक और तामसिक भोजन में मसाले, नमक, मिर्च तथा मादक द्रव्य और मास आदि शामिल हैं। इन तामसिक पदार्थों से दूर इसलिये रहना चाहिये कि इनसे काम-वासना को उत्तेजना मिलती है।

हम जो भोजन करते हैं, उसका आमाशय में मंथन होने के बाद उसका रस बनता है। उस रस से ही रक्त बनता है और उस रक्त से मज्जा, अस्थि तथा वीर्य बनता है। इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से

‡ Ellis : Modesty, Sexual Precaucity & Auto-Erotism : p. 175

मन की रचना होती है। इसीलिये हम जैसा भोजन करते हैं, वैसा ही हमारा मन बनता है और वैसी ही हमारी मनोभावना बनती है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा हैः—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः। सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

जब भोजन शुद्ध होता है, तो सारी प्रकृति—स्वभाव शुद्ध हो जाता है, जब स्वभाव शुद्ध हो जाता है, तो स्मृति दृढ़ हो जाती है और जब मनुष्य की स्मृति दृढ़ हो जाती है, तो मोक्ष के सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं।

इससे शुद्ध आहार की महत्ता स्पष्ट है। अतः सदाचारी को भोजन का चुनाव बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिये।

## ब्रह्मचर्य और सदाचार

उपर्युक्त विवेचन से जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्व भली भांति प्रकट है। मनुष्य को सदाचारी बनने के लिये ब्रह्मचर्य की बड़ी जरूरत है और यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी कि ब्रह्मचर्य ही सदाचार की आधार-शिला है।

परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन सब से अधिक कठिन कार्य है। इसका कारण यह है कि हमारे जीवन में काम—प्रवृत्ति सब से प्रचण्ड शक्ति है। इसका नियंत्रण अत्यन्त कठिन है। काम-शक्ति को वश में रखने के लिये सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण की जरूरत है। इसके साथ ही साथ निरन्तर और सतत प्रयास की आवश्यकता है। जहां किसी भी इन्द्रिय को थोड़ा सा भी मौका मिला की वह कामोत्तेजना को पैदा करने में प्रवृत्त हो जाती है। इसीलिये हम देखते हैं कि प्राचीन समय में बड़े बड़े तपस्वी, ऋषि और मुनियों की आजीवन की तपस्या एक सुन्दरी के प्रति आकर्षण-मात्र से भंग हो गई।

इसीलिये संसार में सांसारिक जीवन बिताते हुए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य है। इस संसार के भोगों का जिसने त्याग कर दिया है, उसी के लिये ऐसा सम्भव है।

अतः समाज ने सदाचार की रक्षा के लिये एक बहुत ही उत्तम नियम— स्वर्ण नियम— खोज निकाला। वह है विवाह की संस्था। विवाह के द्वारा मनुष्य जहां अपने विषय की तृप्ति करता है, वहां वह समाज में स्वेच्छाचारिता से मुक्त रहता है। परन्तु ऐसा उसी समय सम्भव है जब कि पति-पत्नी एक पतिव्रत और एक पत्नीव्रत का पालन करते हों।

समाज में सदाचार की स्थापना के लिये एक पतिव्रत उतना ही जरूरी है, जितना कि एक पत्नीव्रत; परन्तु हम देखते हैं कि हमारे समाज में भयंकर लैंगिक अशान्ति व्याप्त है। यद्यपि भारत में हिन्दू-समाज में कहने को एक पतिव्रत और एक पत्नीव्रत है, परन्तु यथार्थ में अधिकांश लोग अपने दाम्पत्य-जीवन से असन्तुष्ट हैं। कहीं पत्नी पति से असन्तुष्ट है, तो कहीं पति पत्नी से। इस प्रकार वे समाज और कानून के बन्धनों का उल्लंघन कर गुप्त रूप से पर-स्त्री-पुरुष के साथ व्यभिचार करते हैं; बलात्कार करते हैं और वेश्यागमन भी करते हैं। जिन जातियों में तलाक़ की प्रथा है ( ईसाई तथा मुसलमान ) उनमें भी गुप्त व्यभिचार कम नहीं है। इसे एक व्यवसाय का रूप मिल गया है और व्यभिचार के लिये स्त्रियों की बिक्री की जाती है।

काम-विज्ञान के सुप्रसिद्ध लेखक विनफील्ड स्कॉटहाल ने अपनी पुस्तक में लिखा है :—

यह सत्य है कि वीर्य-सम्बन्धी रोगों का खतरा अज्ञान और दुष्ट दोनों के लिये ही समान रूप से है। किन्तु यह भी सत्य है कि यदि दो युगों तक सब लोग विशुद्ध और पवित्र काम्य-जीवन बितावें तो वीर्य सम्बन्धी रोग उतने ही कम रह जायेंगे जितने कि हैज़ा, महामारी या

चेचक, परन्तु अब तो संसार की समस्त जन-संख्या का प्रायः कम-बढ़ ५० प्रतिशत भाग इन रोगों का शिकार है। ये लाखों नहीं करोड़ों व्यक्ति अपने अज्ञान या दूसरे के कार्यों के प्रभाव के कारण आज नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। संसार भर में व्यभिचार—गुप्त-व्यभिचार कितना अधिक व्याप्त है, इसका ठीक ठीक पता लगाना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही। परन्तु विविध देशों की सरकारों ने जांच करके इसका जो पता लगाया है, उससे इस महाकार्य की भीषणता का अन्दाज तो लग ही जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के न्याय-विभाग ने स्त्री-विक्रय के बारे में निम्न प्रकार आंकड़े दिये हैं :—

संयुक्त राज्य अमेरिका में ५०, ००० स्त्री-पुरुष लड़कियों के बेचने का व्यापार कर रहे हैं। प्रति वर्ष १३ से २५ साल तक की १५, ००० से २०, ००० तक लड़कियां इनके द्वारा बेची और खरीदी जाती हैं। अब २, ५०. ००० स्त्रियां इस देश में वेश्या-जीवन बिता रही हैं। लन्दन नगर में, १००, ००० वेश्याएं हैं। श्रीमती केरी चैपमैन काट ने दो वर्ष अफ्रीका और एशिया में भ्रमण करने के बाद अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि भारत, चीन, जापान, मिश्र और दक्षिणी अफ्रीका में युवतियों का व्यापार खूब जोरदार है। इन देशों में १०, ०००,०० युवतियां पुरुषों की काम-पिपासा शान्त करने के लिये अपने शरीर को बेचती हैं।

श्रीमती केरी चैपमैन का यह कथन है कि—

"एशियायी देशों में और खास तौर से चीन और भारत में, जहां आबादी बहुत घनी है, नारी-विक्रय के लिये अच्छा बाजार है। ...... पूर्व और पश्चिम पृथ्वी के इस महान पाप के व्यापार में मिलकर काम कर रहे हैं। पश्चिम में संगठित मशीन द्वारा माल सप्लाई किया जाता

है और पूर्व के देश कच्चा माल पश्चिम को भेजते हैं।" *

भारत में कलकत्ता, देहली, लाहौर, बम्बई, आगरा, लखनऊ, मद्रास, बनारस; हरिद्वार आदि नगरों में यह पाप का व्यापार खुल्लम-खुल्ला चल रहा है। दूसरे प्रान्तों से लड़कियां भगाकर पंजाब में बेची जाती हैं।

इस प्रकार वर्तमान दूषित वातावरण में ब्रह्मचर्य का पालन एक आदर्श ही रह गया है। जब तक इस महारोग का समूल नाश नहीं किया जायगा, तब तक समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं।

---

* Winfield Scott Hall, Sexual Science: p. 224.

पांचवां अध्याय

# अपरिग्रह

ईशोपनिषद् के सर्व प्रथम मंत्र में लिखा है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ये सब पृथ्वी पर, जो कुछ चराचर वस्तुएं हैं, वे ईश्वर से आच्छादन करने योग्य हैं। उसी ईश्वर के दिये हुए पदार्थों से भोग कर; किसी के भी धन का लालच न कर।

उपनिषद् के इस मंत्र में यह स्पष्ट आदेश है कि मनुष्य ईश्वर के दिये हुए प्रत्येक पदार्थ का भोग तो अवश्य करे; परन्तु वह इन पदार्थों को ईश्वर का समझ कर भोगे। इससे मनुष्य की इन वस्तुओं में ममता पैदा न होगी; उसका केवल प्रयोग-अधिकार ही बना रहेगा। वह अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह भी नहीं करेगा। क्योंकि जिसके प्रयोग की उसे जरूरत नहीं, उसका संग्रह भी क्यों करने लगा।

जब मनुष्य की सांसारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों में ममता पैदा हो जाती है, तो वही उसके दुःख का कारण बनती है। इसलिये किसी भी पदार्थ या व्यक्ति से ममता न जोड़नी चाहिये। जब तक हमारा किसी व्यक्ति से सम्बन्ध है, हमें उसके साथ मानवता का व्यवहार करना चाहिये और किसी कारण से उससे सम्बन्ध टूट जाने पर खेद करना व्यर्थ है। इसी प्रकार वस्तुओं के विषय में भी कहा जासकता है।

परन्तु आज तो हमारे देश में न जन-साधारण शुद्धि या शौच के महत्व को समझता है और न वह आन्तरिक शुद्धि के ही मर्म को जानता है। हमारे शरीर भी उतने ही गन्दे हैं जितने कि मन। शिक्षित और सम्पन्न लोग अवश्य-अपने शरीर की शुद्धि कर लेते हैं—एक या दो वेला स्नान करना, वस्त्र धोकर पहनना। परन्तु शेष निम्न मध्यम्-श्रेणी या सर्वहारा वर्ग के लोग यों गरमी लगने के कारण भले ही नहा-धो लें, परन्तु वे शारीरिक शुद्धि के हेतु स्नान नहीं करते। शुद्ध वस्त्र धारण करना तो उनके लिये एक प्रकार से तीज-त्यौहार के समय प्रदर्शन ही रह गया है; वह भी बहुत कम लोगों के लिये।

आजकल साबुन, सिर के तेल, वैसलीन, स्नो, क्रीम, और पाउडर आदि के प्रयोग का अधिक चलन है। परन्तु ये चीजें इतनी अशुद्ध मिलती हैं कि इनके प्रयोग से शरीर की शुद्धि की जगह हानि ही होती है। पहले तो हमारे देश में विदेशी साबुन और तेल आते थे, परन्तु अब तो यहीं बनने लगे हैं। परन्तु दो-चार ही अच्छे कारखाने हैं, जो विशुद्ध तेल, साबुन आदि बना रहे हैं। इसलिये इनका प्रयोग बहुत ही सावधानी से करना चाहिये।

हमारे देश में तीर्थ-यात्रा और स्नान का बड़ा महत्व है। सोमवती अमावस्या से लेकर कुम्भ के स्नान तक इतने स्नानों का विधान है कि प्रति मास कोई न कोई स्नान पड़ता है। लोग लाखों की संख्या में गंगा, यमुना, नर्मदा आदि में स्नान करने जाते हैं। हरिद्वार, काशी और कासगंज में तीर्थयात्रा करने और अपने माता-पिता की अस्थियों को जल-प्रवाह देने जाते हैं। इन स्थानों में ये लोग जो सार्वजनिक स्नान करने जाते हैं, उनका उद्देश्य न शरीर शुद्धि होता है, और न आन्तरिक शुद्धि ही। वे तो केवल इस भावना से जाते हैं कि मां गंगे हमारे सब पापों को धो देगी और हम मुक्त हो जायंगे। परन्तु इस प्रकार के विचार अज्ञानता-मूलक ही हैं। वस्तुतः जब तक आत्मा और

मन की शुद्धि नहीं होती, तब तक तीर्थ-यात्रा और स्नान व्यर्थ है। शुद्धि दो प्रकार की है, शारीरिक एवं मानसिक।

## शारीरिक शुद्धि

शरीर की शुद्धि के लिये हमें नित्य स्नान करना चाहिये। स्नान भी केवल नियम-पूर्ति के लिये नहीं, प्रत्युत शरीर-शुद्धि के उद्देश्य से करना चाहिये। वैज्ञानिक विधि से स्नान किया जाय, जिससे शरीर का मल दूर होजाय। शुद्ध साबुन और तेल का भी प्रयोग किया जासकता है। स्नान के समय शरीर के प्रत्येक भाग और अंग की सफाई करनी चाहिये। आंख, कान, मुख, नाक, जिह्वा, केश आदि की सफाई बहुत ही अच्छी तरह करनी चाहिये। स्त्री-पुरुषों को अपनी उपस्थेन्द्रिय की प्रति दिन अन्य अंगों की भांति ही सफाई रखनी चाहिये। शरीर की सफाई के साथ साथ अपने प्रयोग के वस्त्रों, मकान, तथा सब वस्तुओं—वातावरण—की भी सफाई रखनी चाहिये।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है :

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। ( योग० पाद० २ सूत्र ४० )

शौच से अपने शरीर में घृणा और दूसरे में संसर्ग का अभाव होता है।

शरीर को शुद्ध रखने की इच्छा इसे अशुद्ध देखकर ही होती है। परन्तु हम नित्य प्रति शुद्ध करने पर भी अशुद्ध बने रहते हैं, और हर समय हमें शुद्धि की जरूरत रहती है। जब बार बार स्वयं शुद्ध किया हुआ शरीर अशुद्ध बना रहता है तो दूसरों के अशुद्ध शरीर से उसका संसर्ग स्वयं छूट जाता है।

## मानसिक शुद्धि

शरीर की शुद्धि के साथ साथ मन की शुद्धि पर भी ध्यान देना चाहिये। मन की शुद्धि होती है इन्द्रिय-निग्रह से। अतः मन को सदैव

पवित्र विचारों, भावनाओं और संकल्पों से युक्त रखना चाहिये। घृणा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, हिंसा, व्यभिचार आदि दुर्गुणों का परित्याग कर देना चाहिये। इनके परित्याग से ही मन में विमलता का प्रादुर्भाव होता है। आन्तरिक शुद्धि के विषय में पतंजलि मुनि कहते हैं:—

**सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्य दर्शन योग्यत्वानि च।**
**( योग० पाद० २ सूत्र ४१ )**

शौच की स्थिरता से सत्त्व शुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्म-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है।

आगे पतञ्जलि मुनि ने आत्म-शुद्धि के लिये साधन बतलाये हैं:-

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-**
**विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्। ( योग ० पाद ० १ सूत्र ३३)**

सुखी पुरुषों से प्रेम, दुखियों के प्रति दया, पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता और पापियों के प्रति उदासीनता की भावना से चित्त प्रसन्न होता है।

योगदर्शन में मानसिक शुद्धि के लिये कितना उत्तम उद्देश्य है—

( १ ) जगत के समस्त सुखी जीवों के प्रति प्रेम रखिये। इससे उनके प्रति ईर्ष्या की भावना या दाह पैदा न होगा। जिस प्रकार हम अपने परिवार के लोगों को सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, यदि हम इस भावना का विस्तार कर अपने नगर, राष्ट्र और संसार के मनुष्यों को सुखी देखकर प्रसन्न हों तो इससे संसार में कितना कल्याण हो जाय।

दुखियों के प्रति दया का व्यवहार रखने से मन में निर्मलता पैदा होती है। दुखियों की सेवा करने से मन में प्रफुल्लता पैदा होती है और मन में जो भी ईर्ष्या या पाप की भावना होती है, वह विलीन हो जाती है।

धार्मिक तथा पुण्यात्माओं को देखकर प्रसन्न होने से असूया दोष

नष्ट हो जाता है। किसी महात्मा या महापुरुष के गुणों में भी दोष देखने की जो प्रवृत्ति है उसका नाश हो जाता है।

पापियों के प्रति उदासीन रहने से उनके प्रति क्रोध की भावना नष्ट हो जाती है। किसी पाप को देखकर मनुष्य में जो क्रोध पैदा होता है, वह उसके कर्त्ता के प्रति उपेक्षा भाव से नष्ट हो जाता है। उससे घृणा भी पैदा नहीं होती और इससे चित्त प्रसन्न रहता है।

## सातवां अध्याय

# सन्तोष

सन्तोष को योगदर्शन कार ने 'अनुत्तम सुख' कहा है। यह वास्तव में सब से बड़ा सुख है भी। सन्तोष को ही धृति, धारणा, धैर्य अथवा सहनशीलता भी कहा जाता है। संकट के अवसरों पर मनुष्य अपने धर्म से विचलित हो जाते हैं, परन्तु जो धैर्यवान होते हैं, वे बड़े से बड़े संकट का सामना धीरता से करते हैं और अपने पथ से विचलित नहीं होते।

परन्तु जो लोग सन्तोष के वास्तविक मर्म को नहीं समझते, वे यह मानने लगते हैं कि अपनी जैसी स्थिति है, उसमें ही सुख मानना चाहिये। जो लोग दरिद्र हैं, गरीब हैं, सम्पत्तिहीन हैं, उन्हें धनवान और दानी सदैव से सन्तोष का पाठ पढ़ाते रहे हैं जिससे उनमें धनवान बनने की चेष्टा पैदा न हो और वे जैसे के तैसे बने रहें और इसी हेतु बहुतेरे पूंजीपति अपनी करोड़ों की सम्पत्ति में से लाख दो लाख रुपये गरीबों ( जिनका महात्मा गांधी ने 'दरिद्रनारायण' नामकरण किया है ) को बांट देने को ही दान समझते हैं। पर यह दान नहीं है, यह तो समाज के प्रति बड़ा पाप है। यह जनता में अकर्मण्यता की प्रवृत्ति को जन्म देने वाला है।

सन्तोष का अर्थ है मनुष्य जैसी स्थिति में है, उसमें प्रसन्नता का अनुभव करे। परन्तु वह अपने जीवन को सुधारने के प्रयत्न में

शिथिलता न करे। आत्म-सुधार और अपने अभ्युदय के लिये बराबर प्रयत्न करता रहे। हमारे वेद-शास्त्रों में सभी मनुष्यों को यह उपदेश दिया गया है कि वे अपने अभ्युदय और निश्रेयस के लिये उद्योग करें। वे सांसारिक उन्नति भी करें और आत्म-दर्शन के लिये भी उद्योग करें।

इस प्रकार अभ्युदय के लिये प्रयत्न में उन्हें धैर्य, साहस और सन्तोष से काम लेना चाहिये।

---

## आठवां अध्याय

# तप और तेज

हमारी संस्कृति की एक सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें जीवन की सात्विकता पर अधिक जोर दिया गया है। पाश्चात्य संस्कृति में जहां इन्द्रिय-परायणता का ही विशेष महत्व अथवा प्राधान्य है, वहां हमारी आर्य संस्कृति में तप और तपोबल का बड़ा महत्व है।

तप का मतलब यह नहीं है कि मनुष्य अपने घर-बार का त्याग कर जंगल में धूनी रमा ले या हरिद्वार में गंगा-तट पर आश्रम बनाकर रहे। कुछ लोग प्रमादवश प्रदर्शन के लिये मेले-तमाशों में अपने मिथ्या तप का—पाखण्ड का परिचय देते हैं। कांटों पर या शलाकाओं की शय्या बनाकर उस पर नग्न शरीर लेट जाते हैं; कुछेक लोग अपने एक हाथ को ऊंचा उठाये रहते हैं; कुछ लोग अपने शरीर के अंग का छेदन कर लेते हैं; कुछेक लोग भूमि पर शयन न करने का व्रत ले लेते हैं और सदैव खड़े रहते हैं, रात्रि को विश्राम के लिये किसी वृक्ष पर झूला डालकर लटके रहते हैं। इस प्रकार के अनेक 'तपस्वी' देखने को मिलते हैं। पर क्या वास्तव में यह तप है, यह विचार करने की आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में तीन प्रकार के तप बतलाये हैं, (१) शारीरिक तप (२) मानसिक तप (३) वाणी का तप।

१. शारीरिक तप—देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन

एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर-सम्बन्धी तप है।

देवता से प्रयोजन किसी मन्दिर में स्थापित मूर्ति से नहीं, प्रत्युत देव जनों से है जिनमें ऋषि, मुनि, महात्मा और योगी शामिल हैं। ब्राह्मण से मतलब है चारों वेदों का ज्ञाता, परम विद्वान और समाज का नियामक। गुरु शब्द में माता, पिता, आचार्य और वृद्ध तथा अपने से सभी बड़े आजाते हैं। अहिंसा और ब्रह्मचर्य की व्याख्या तो हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। इन विद्वानों और गुरुजनों की सेवा-सत्कार और शरीर की पवित्रता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये चार कर्म ही तप हैं।

यदि कोई इन चार कर्मों को न कर केवल दम्भाचरण के लिये तप का प्रदर्शन करता है, तो वह सदाचारी नहीं, ढोंगी है। *

२. मानसिक तप—मन की प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता यह मानसिक तप है।

३. वाणी का तप—उद्वेग-रहित, सत्य और प्रिय और हित-प्रद भाषण ही वाणी का तप है। वाणी के तप में स्वाध्याय भी शामिल है।

अन्त में हम गीता के शब्दों में यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि फल की आकांक्षा न करने वाले निष्कामी पुरुष द्वारा उपर्युक्त तीन प्रकार का परम श्रद्धा से किया हुआ तप ही सात्विक है।

---

* शरीर की पवित्रता को शारीरिक तप माना गया है। शारीरिक पवित्रता के अनेक साधन हैं; उनमें शरीर की आभ्यन्तरिक शुद्धि का एक उपाय उपवास भी है। उपवास रखने से शरीर के मल दूर हो जाते हैं, चित्त में एक नयी स्फूर्ति आजाती है और मन प्रसन्न होजाता है।—लेखक

तेज और तेजस्विता तप द्वारा ही प्राप्त होती है। तपस्वी लोगों में ही तेज होता है। तेज उस शक्ति का नाम है जिसके प्रभाव से उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृति वाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरण से रुक कर, उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

## नवां अध्याय

# स्वाध्याय

सदाचार और स्वाध्याय का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य को अपने मन में सद्भावना और सात्विक विचारों को जगाने के लिये निरन्तर उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिये। संसार में विचार सब से बलवान शक्ति है। आज संसार में जो कुछ विकास और प्रगति देख पड़ती है, उसका श्रेय विचारों को ही है। मानस में पहले विचारों का उदय होता है और फिर वे क्रियात्मक रूप धारण करते हैं।

हमारे देश में स्वाध्याय करने की प्रथा नहीं रही है। बीस-पच्चीस वर्ष तक विश्व-विद्यालयों या विद्यालयों में विद्यार्थी-अवस्था में जो कुछ अध्ययन परीक्षाएं पास करने के उद्देश्य से कर लिया जाता है, वही स्वाध्याय समझिये। विश्व विद्यालय की पदवी पाने के बाद ऐसे कितने हैं (अध्यापकों व शिक्षकों को छोड़) जो इसके बाद भी अपने स्वाध्याय के सिलसिले को जारी रखते हैं। ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है। व्यापारी-वर्ग के लोग तो निशिदिन निन्यानवे के फेर में लगे रहते हैं; सरकारी कर्मचारी-वर्ग 'फाइलों' में चिपटे रहते हैं और जमींदार लोग अदालतों में किसानों के खिलाफ़ मुकदमेबाजी में लगे रहते हैं और किसान लोग तो निपट अपढ़ हैं, वे क्या जानें स्वाध्याय क्या चीज है। नगरों में मिलों में काम करने वाले मजदूर भी अशिक्षित हैं। इसीलिये हमारे देश में लोकमत अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम

जागृत है। इसीलिये हमारे देश में पुस्तकों की खपत बहुत ही कम है। यदि शिक्षा का प्रचार हो जाय और लोगों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति पैदा की जाय, तो इससे न केवल उन्हें मानसिक भोजन ही मिलेगा, प्रत्युत वे सदाचार के पथ पर भी आरूढ़ हो सकेंगे। जो लोग अपना समय व्यर्थ की गपशप, भद्दे मनोरंजन, शतरंज, ताशबाजी और नाच-रंग में बर्बाद कर सैकड़ों तरह की बुराइयां ग्रहण कर लेते हैं, यदि वे स्वाध्याय-शील बनने की चेष्टा करें तो उन्हें इससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार का लाभ होगा।

स्वाध्याय के लिये श्रेष्ठ और उत्तम पुस्तकों का चुनाव एक महत्व-पूर्ण समस्या है। बहुत से लोग स्वाध्याय तो करना चाहते हैं, पर वे उपयुक्त पुस्तकें प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को चाहिये कि वे अपने से अधिक विद्वान से सम्मति लें। धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का अवश्य ही अवलोकन करना चाहिये। वेद, गीता, उपनिषद आदि के अध्ययन से मनुष्य को जो मानसिक शान्ति और आत्मिक सुख प्राप्त हो सकता है, वह अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं। हमारी राय में गीता आचार-शास्त्र का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। मनुष्य मात्र को इसका अवश्य ही अवलोकन कर इसके अनुसार आचरण का प्रयत्न करना चाहिये।

———

# दसवां अध्याय

# ईश्वर-भक्ति

ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर-भक्ति अर्थात् अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के अर्पित कर देना। प्रत्येक कार्य करते ममय ईश्वर का ध्यान रखने से मानव में सदाचारी बने रहने का भाव दृढ़ होता है और वह दुराचार के पथ पर अग्रसर होने से बचा रहेगा।

मानव को सच्ची शान्ति एवं आनन्द आत्म-दर्शन अथवा ईश्वर-साक्षात्कार से ही मिल सकता है, और इसके लिये ईश्वर-भक्ति परम आवश्यक है।

गीता का मुख्य उपदेश यही है कि मनुष्य कार्य करे परन्तु आसक्ति-भाव से नहीं। वह सत्कार्य करे, परन्तु फल की कामना नहीं करे, तो उसे परम आत्मिक शान्ति मिलती है।

ईशोपनिषद् में ब्रह्म-विद्या का विवेचन सूक्ष्म रूप में किया गया है। जो व्यक्ति निम्न लिखित पांच नियमों का अपने जीवन में आचरण करता है, वह ब्रह्म-विद्या के जानने का अधिकारी है। वे नियम ईशोपनिषद के प्रथम तीन मंत्रों में उल्लिखित हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

१. यह अनुभव करना चाहिये कि ईश्वर सर्व-व्यापी है। जब मनुष्य ईश्वर की सत्ता प्रत्येक स्थान में अनुभव करता है, तब वह कोई पाप नहीं कर सकता और न किसी से घृणा कर सकता है।

२. वह विश्व में समस्त पदार्थों तथा ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओं का

समुचित भोग करे; परन्तु उन सबों को ईश्वर की माने। ऐसा करने से उसमें किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति ममत्व उत्पन्न नहीं होगा। यह ममत्व ही व्यक्ति के अनेक दुःखों का मूल कारण है।

३. दूसरे की सम्पत्ति या धन की लालसा न करनी चाहिये।

४. निष्काम भाव से फल की इच्छा न करते हुए कर्म करे और सौ वर्ष तक आयु का भोग करे।

५. मनुष्य को अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार कार्य करना चाहिये।

ईश्वर-भक्त को ईश्वर के निम्न लिखित गुणों का सदैव ध्यान रखना चाहिये। इन गुणों का सदैव चिन्तन, मनन तथा विचार करने से वह ईश्वर की सत्ता का अनुभव कर सकेगा। वे गुण निम्न प्रकार हैं:—

१. ईश्वर असीम है; वह सर्व-व्यापी है। ईश्वर किसी एक व्यक्ति में सीमित नहीं है। वह असीम होने से सर्वत्र विद्यमान है।
२. ईश्वर एक है उसके सिवा और कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।
३. वह सृष्टि का नियन्ता है।
४. वह पवित्रात्मा है।
५. वह निष्पाप है।
६. वह कवि है; वह सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी है।
७. वह मनीषी है अर्थात् उसे पूर्ण ज्ञान है।
८. वह स्वयं शक्तिमान् है; उसका पालन-कर्ता या उत्पादन-कर्ता कोई भी नहीं है; वह स्वयं अपना पालन करता है।
९. वह समस्त प्राणियों को उनके कर्मानुसार कर्मफल देता है।

इस प्रकार मनुष्य सदैव ईश्वर के गुणों पर विचार करता रहेगा, तो वह अपने चारों ओर ऐसा वातावरण बना लेगा, जिसमें उसे ब्रह्म का अनुभव होने लगेगा।

आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे बोध कहते हैं और आत्मा इन्द्रियों के माध्यम के बिना जो ज्ञान प्राप्त करती है उसे प्रतिबोध कहते हैं। इन्द्रिय शब्द के अन्तर्गत अन्तःकरण और बाह्यकरण दोनों शामिल हैं। बाह्यकरण दस ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां हैं और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का नाम है। आत्मा की दो वृत्तियां हैं: ( १ ) बहिर्मुखी वृत्ति और ( २ ) अन्तर्मुखी वृत्ति ।

आत्मा जब बाह्य जगत में काम करना चाहता है, तब उसकी बहिर्मुखी वृत्ति काम करती है और जब अपने भीतर ही काम करता है तब अन्तर्मुखी वृत्ति से काम लेता है। बहिर्मुखी वृत्ति का काम बुद्धि, मन और इन्द्रियों के माध्यम से होता है। परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति के लिये किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं। आत्मा सदैव प्रयत्न करता है। जब बहिर्मुखी वृत्ति अपना कार्य बन्द कर देती है, तब अन्तर्मुखी वृत्ति अपना काम करती है।

जब मनुष्य प्रयत्नशील होकर 'ध्यान' के अभ्यासों द्वारा मन को निर्विषय बना देता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाया करती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति का कार्य क्षेत्र आत्मा और परमात्मा होते हैं; इसलिये आत्मा को जो ज्ञान अपना या ईश्वर का प्राप्त हुआ करता है, इसी का नाम प्रतिबोध है। इस प्रतिबोध ( आत्मानुभव ) से प्राप्त विज्ञान से मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है। परन्तु यह अमरत्व अहंकार के नाश से प्राप्त होता है। अहंकार से ममता नष्ट होती है और उससे आत्मा तथा परमात्मा के बीच से पर्दा हट जाता है। यही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

अतः ईश्वर-प्राप्ति न तो तीर्थ-यात्रा से हो सकती है और न देव-मन्दिरों में दर्शन से और न गंगा-स्नान तथा कुंभ-स्नान से। ईश्वर की प्राप्ति तो योग द्वारा ही हो सकती है। जब आत्मा अन्तर्मुखी होकर ध्यान करेगी, तभी ईश्वर की प्राप्ति होगी।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासन्।

(यजुर्वेद ३२। ८)

आत्मनात्मानमभिसंविवेश। यजुर्वेद ३२। ११

अर्थात् योगी ईश्वर को हृदयाकाश में साक्षात् करता है।

जीवात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करो।

"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्ने तरेषाम्।"

(कठोपनिषद् ५। १२)

"जो धीर पुरुष आत्मा में प्रवेश करके ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।"

अतः यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों द्वारा—देव-मन्दिरों में मूर्ति के दर्शन आदि द्वारा—ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अन्त में हम बृहदारण्यक-उपनिषद् के एक मंत्र को यहां उद्धृत कर इस ग्रन्थ को समाप्त करते हैं, जिसमें जीवन का चरमोद्देश्य निहित है:—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमयेति॥

इति

## परिशिष्ट सं० १

# सहायक ग्रन्थ-सूची


१— संस्कृत-हिन्दी ग्रन्थ—

(१) महाभारत
(२) गीता
(३) छान्दोग्योपनिषद्
(४) न्याय-दर्शन
(५) ऋग्वेद : मनुस्मृति
(६) सत्यार्थप्रकाश : स्वामी दयानन्द
(७) ईश्वर : पं० मदनमोहन मालवीय
(८) अहिंसा विवेचन : श्री किशोरलाल मश्रुवाला
(९) महात्मा गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ : श्री राधाकृष्णन्
(१०) युद्ध और अहिंसा : महात्मा गांधी
(११) मेरा संघर्ष : हिटलर
(१२) प्रस्तावित हिन्दू विधान पर कुछ विचार : श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार
(१३) सामाजिक कुरीतियां : म० टॉलस्टॉय
(१४) ऐतिहासिक भौतिकवाद : श्री मन्मथनाथ गुप्त

२— अंग्रेजी ग्रन्थ—

(1) Mackenzie: Manual of Ethics
(2) Swami Shiva Nand: Mind and its mysteries and control

(3) Muirhead: The Elements of Ethics
(4) Alexander: Mental and Moral Science
(5) Flint: Theism
(6) Swami Vivekanand: The Science and Philosophy of Religion
(7) Yogiraj Arbind Ghosh: The Life Divine, Essays in Gita
(8) C. F. Andrews: Mahatma Gandhi: His own story
(9) M. K. Gandhi: Young India, Harijan
(10) M. A. Mugge: Neitzsche
(11) Will Durant: The Story of Philosophy
(12) Leonard Woolf: After Deluge
(13) Seth: Ethical Principles
(14) Dewy and Tufts: Ethics
(15) Wright: General Introduction to Ethics
(16) U. S. S. R. Constitution
(17) Havelock Ellis: Sexual Selection in Man; Modesty, Sexual Precaucity and Auto Erotism

## परिशिष्ट सं० २

# पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अपरिग्रह—Non-covetousness
अभिलाषा—Ambition
अध्यात्म-शास्त्र—Metaphysics
अयोग्यता—Disability
अन्तःकरणवाद—Intuitionalism
अस्तेय—Non-stealing
अनैच्छिक कार्य–Non-voluntary actions
अन्ध प्रवृत्तियां—Propensities
आचार—Conduct
आचार-शास्त्र—Ethics
आदर्श अहिंसा—Perfect Non-violence
आदर्शात्मक कल्पना—Idealistic conception
इच्छा—Desire
इच्छा की स्वतन्त्रता—Freedom of will
उद्देश्य—Motive
ऐच्छिक कार्य—Voluntary actions
काम—Sex
काम्य—Sexual
कारण शरीर—Casual body
क्रियावाहक तन्तुः—Motor nerves
कोष्ठ-समूह—Ganglias
कोष्ठ—Cell
चेतनामय जीवन–Conscious life
छोटा दिमाग—Cerebellum
तप—Austerity
तार्किक निर्णय—Logical Judgment
दर्शन—Philosophy
दूषण—Evil
दुर्गुण—Vice
दण्डाज्ञा—Sanction
नीति विज्ञान—Ethics, Moral Science
नियामक-विज्ञान—Normative Science
नैतिक निर्णय—Moral Judgment
नैतिक कर्त्तव्य—Moral obligation
प्रेरणा—Inspiration
प्रकृतिवाद—Materialism
प्राकृतिक विज्ञान—Natural Science
प्राणि विज्ञान—Biology

बड़ा दिमाग़—Cerebrum
बुद्धिवाद—Rationalism
भाव—Emotion
भावना— Feeling
भौतिकवाद—Materialism
मनोविज्ञान—Psychology
मस्तिष्क—Brain
मस्तिष्क दण्ड संस्थापन—Cerebro Spinal system
मज्जा दण्ड मूल—Medulla oblongata
मन्तव्य—Motive
मन—Mind
मानसिक व्यापार—Mental actions
मेरुदण्ड—Spinal cord
राजदण्ड—Punishment
राज्य विधान—State Constitution
राजनीतिक सदाचार—Political Morality
लालसा—Wish
बनवासी—Tribe
सदाचार—Morality
सदाचरण—Good conduct
सदाचार शास्त्र—Ethics
स्नायुमण्डल—Nervous system
स्थूल शरीर—Gross body
सूक्ष्म शरीर—Subtle body
साध्य—End
साधन—Means
सामान्य बुद्धि—Common Sense
समाज—Society
समाजवाद—Socialism
सामाजिक सदाचार—Social Ethics
सुख—Pleasure
सुखवाद—Hedonism
सुखवाद (मनोवैज्ञानिक)—Psychological Hedonism
सुखवाद (नैतिक) - Ethical Hedonism
सुखवाद (विकासात्मक)—Evolutionary Hedonism
सुखवाद स्वार्थवादी—Egoistic Hedonism
सुखवाद (परमार्थवादी)—Altrustic Hedonism
सुखवाद (भोगवादी)—Gross Egoistic Hedonism
सुखवाद (श्रेष्ठ स्वार्थवादी) Refined Egoistic Hedonism
सौन्दर्य शास्त्र—Aesthetics
सन्तोष—Endurance
संकल्प—Determination
शक्ति का सिद्धान्त—Doctrine of will-to-power
शान्तिवाद—Pacificism
शौच—Purity
ज्ञान वाहक तन्तु–Sensory nerves